आनन्द सूत्र



अखण्डानन्द सरस्वती

आनन्द-सूत्र

व्याख्याता

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

संकलन :

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई-400006

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो. : 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

द्वितीय संस्करण : 1100
आराधन महोत्सव 2009

तृतीय संस्करण : 1100
मई 2016

●

मूल्य : 40/- रुपये मात्र

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

प्रकाशकीय

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित **'आनन्द-सूत्र'** ग्रन्थका द्वितीय संस्करण प्रस्तुत है। इस ग्रन्थके सम्बन्धमें श्रीमहाराजश्रीका कथन है-

'भगवान्‌ने चराचर जगत्‌को स्वसत्तासे और स्वसत्तामें ही जीवनदान किया है। सत्‌से सदाचार, चित्‌से ज्ञान और आनन्दसे सुखानुभूति। उसकी अद्वितीयता ही सबको प्रेमरससे सिक्त करती रहती है। इस सम्बन्धमें मैं कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा लिखाता रहा हूँ।...'

प्रस्तुत ग्रन्थ 'आनन्द-सूत्र' में 37 सूत्रोंका संकलन जिनको महाराजश्रीने लिखवाया है। प्रथम 36 सूत्र जनवरी-फरवरी 1985में लिखे गये और अन्तिम 11 सूत्र जनवरी-फरवरी 1986 में लिखे गये। ग्रंथका सम्पूर्ण संकलन महाराजश्रीकी परम कृपापात्र सुश्री कुन्ती धर्मचन्द जालान ने बड़े परिश्रम से किया।

सूत्रोंका इस रूप में संकलन साधकोंके लिये अपनी एक विशेष उपादेयता रखता है।

निश्चय ही इन सूत्रोंको बारम्बार पढ़कर मनन करनेसे पाठकोंके जीवनमें भक्ति, वैराग्य एवं भगवत्प्रबोध होगा।

वृन्दावन
दीपावली
17-10-2009

-सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

विषयानुक्रमणिका

❑

आनन्द-सूत्र

: 1 :

प्रेरणा स्रोत

आपको अन्त:प्रेरणा कहाँसे प्राप्त होती है-क्या बाहरके देखे-सुने विषयों से ? तब तो निश्चय ही आपकी प्रेरणा सर्वदा बदलती रहेगी। क्योंकि दर्शन, श्रवणमें अन्तर पड़ता रहेगा, प्रेरणाके रूपमें भी परिवर्तन होता रहेगा। संकल्प, विचार, निश्चय और प्रवृत्तिके भी अनेक आकार आते-जाते रहेंगे परन्तु, यदि आप बाह्य पदार्थोंके संस्कारसे मुक्त अन्तर्यामीसे प्रेरणा प्राप्त करेंगे और उस अंतर्यामीसे ही अपनेको और अपनी मतिको मिलाकर रखनेका प्रयास करेंगे तो अपनी इच्छाओंमें एकरूपता आ जायेगी और आपको स्थिरता तथा उस अन्तर्यामी, जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है-से एकता प्राप्त हो जायेगी तथा आप स्वयं सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ताके भण्डार हो जायेंगे।

1-1-85

❑

: 2 :

सेवा-निरभिमान

आपके मनमें दूसरोंकी सेवा करनेकी आकांक्षा अवश्य है, क्योंकि आप दूसरेसे सेवा लिये बिना रह भी तो नहीं सकते। विचारणीय यह है कि आप दूसरोंकी कैसी सेवा करना चाहते हैं- आपके मनके पसंदकी या उसके मनके पसंदकी ? सुख पहुँचाना चाहते हैं या हित करना चाहते हैं ? यह दोनों अलग-अलग वस्तु है। कभी-कभी एक होती हैं। विवेक करना कठिन है। अपनी वासना सेवामें जुड़ जाती है। आप सूक्ष्म दृष्टि से देखिये। अपने द्वारा की हुई सेवासे आप अपनेको गौरवान्वित करते हैं कि नहीं ? यदि ईश्वरकी, सर्वात्माकी, मानवताकी, समाजकी, जातिकी, मजहबकी, वर्गकी या किसीकी भी सेवा करके आपको यह अनुभव होता है कि मैंने एक बहुत बड़ा काम किया तो, वह सेवा दूसरेकी न होकर आपकी अपनी सेवा हो जाती है। चन्दन अपने सिरमें लगा, माला अपने गलेमें पड़ी, भोग-सुख अपनेको मिला। इसमें सावधान रहनेकी बात इतनी ही है कि सेवामें अभिमानका उदय न हो जाये।

विश्व बहुत बड़ा है। उसकी आवश्यकतायें और माँग बहुत बड़ी है। आपकी सेवा समुद्रमें एक सीकरके समान भी नहीं है। आप अपने ही भीतर बैठे हुये ईश्वरके ज्ञान, उसकी शक्ति और उसके अद्भुत क्रियाकलापका अनुभव कीजिये, देखेंगे- ईश्वरसे अलग आपका कोई सत्त्व महत्त्व नहीं है। आप ईश्वरके यन्त्रके रूपमें बस सेवा करते रहिये !

2-1-85

❑

: 3 :

अधिकार

आपके मनमें कोई कार्य करनेकी रुचि है ? सोच-विचार कर लीजिये, आप कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ! कार्य करनेका निश्चय और आरम्भ करनेसे पूर्व आपको अपनी योग्यता एवं शक्तिकी जाँच-पड़ताल कर लेनी चाहिये। आप इन्जीनियर हैं तो डॉक्टरीका काम मत कीजिये, वैज्ञानिक हैं तो दार्शनिक मत बनिये । जिस विषयकी विशेष योग्यता आपने प्राप्त की है, उसीमें हाथ डालिये ! आप क्या चाहते हैं, आपमें क्या करनेका सामर्थ्य है, आप उस विषयको अच्छी तरह समझते हैं कि नहीं, आपके लिये वह निषिद्ध अर्थात् गैर-कानूनी तो नहीं है- इन सब बातों पर विचार करके निश्चय कीजिये !

आप जो काम करने जा रहे हैं उससे आप अपनी कौन-सी कामना पूरी करने जा रहे हैं ? कामना पूरी होनेके बाद निवृत्त हो जाती है उसके विषयमें अरुचि हो जाती है, कभी-कभी तो ग्लानि भी हो जाती है- इसलिये जो कामना हो वही काम करना- यह प्रवृत्ति युक्तिसंगत नहीं है ! कार्य करनेका प्रयोजन होता है, वह कामसे विलक्षण है । प्रयोजन-पूर्तिका अर्थ है कि उससे जो वस्तु मिले वह अपने साथ रहे, वह अपने साथ मिल जाये ! जो छूट जाता है सो काम है, जो अपने साथ मिलकर रहता है वह प्रयोजन है ! अपने अधिकार, कार्यकी रूप-रेखा, सामर्थ्य, समझदारी, विहित और प्रयोजन पर ध्यान रखकर ही कोई कार्य करना चाहिये ।

आप जो कार्य कर रहे हैं उससे आपका प्रयोजन पूर्ण हो जायेगा न ? क्यों ? प्रयोजन क्या है ? सदाचारके संस्कार, सद्भाव, भगवद्भक्ति या तत्त्वज्ञान ? ये मिलेंगे तो अपने साथ रहेंगे ।

3-1-85

: 4 :

संकल्प

वैदिक संस्कृतिका एक नियम है कि कोई भी काम करना हो तो सबसे पहले संकल्प करना चाहिये। संकल्प माने सम्यक् कल्पना, सांगोपांग योजना। योजनाके बिना जो-जो कर्म आरम्भ किया जाता है उसमें बीच-बीचमें विघ्न आनेकी संभावना रहती है। यह बात केवल वैदिक कर्मों पर ही नहीं, व्यावहारिक कर्मों पर भी लागू होती है।

संकल्प क्या होता है-

1. विघ्नेश्वर श्रीगणेशका स्मरण।
2. भगवत्-स्मरण
3. वह कार्य करनेके लिये कौन-सा स्थान उपयोगी होगा ?
4. वह कार्य किस समय करना ठीक रहेगा। अर्थात् परिस्थितिका विचार कर लेना चाहिये।
5. करने वाले ब्राह्मण या श्रमिक कहाँ मिल सकेंगे ?
6. मुझे स्वयं क्या-क्या करना पड़ेगा ?
7. सामग्रीकी सुलभता कहाँ रहेगी ?
8. यह कार्य कितने दिनोंमें सम्पूर्ण होगा ?
9. इससे हमारी वासनाकी पूर्ति या निवृत्ति कहाँ तक हो सकेगी ?
10. हमारी परम्परामें यह काम होता रहा है या नहीं ?
11. हम यह काम बड़ोंकी आज्ञासे कर रहे हैं या मनमाने ढंगसे ?
12. हमारा निश्चय कितना दृढ़ है ?
13. इस कार्यसे जो फल होगा वह कितना स्थायी होगा-विनश्वर या अविनाशी ?

इन सब विषयोंका विचार हमारा संकल्प सूचित करता है। आप यज्ञ कीजिये या फैक्टरी बनाइये- सबमें वह उपयोगी होगा।

4-1-85

❑

: 5 :

सजग रहिये !

निकम्मा रहना जड़तासे एक होना है, अर्थात् जड़ होना है। आलस्य, निद्रा, प्रमाद तमोगुण हैं। इसमें चेतनता और आनन्द दोनोंका लोप हो जाता है। कर्म करनेसे बुद्धि एवं रस दोनोंकी उत्पत्ति होती है। निषिद्ध कर्म वासनाके अनियन्त्रित वेगका सूचक है। वह काम, क्रोध, लोभ या मोहकी तीव्रतामें हुआ करता है। इसी वासना-वेगको रोकनेके लिये जीवनमें धर्मकी आवश्यकता होती है। धर्म-अर्थात् अपने मन और इन्द्रियोंको रोक लेनेकी शक्ति-संयम। इसमें- क्या लेना, क्या करना, क्या भोगना और क्या बोलना-यह निश्चय होता है। आज्ञा-पालन धर्म है। आज्ञाका उल्लघंन अधर्म है। धर्मानुसार निश्चयकी स्थिरता जीवनको शक्तिशाली बनाती है।

आज्ञाका पालन वासनाको नियमित करता है। धर्म जब किसी कामनासे किया जाता है तब, वह स्वयंमें गौण हो जाता है और उससे चाही जाने वाली वस्तु मुख्य हो जाती है। सकाम व्यक्ति दीन-हीन एवं मलिन होता है। कर्मकी निष्कामता अन्तःकरणकी शुद्धि है। अन्तःकरण शुद्ध होने पर या तो समाधि लग जायेगी या तो आत्म-चिन्तन होने लगेगा। विचारकी अन्तर्मुखता ही अन्तःकरणशुद्धिका प्रकाश है। इसी प्रकाशमें अनात्मा, दृश्य अथवा द्वैतका भावाभाव प्रकाशित होता है, आत्माकी अद्वितीयताका बोध होता है। अतः निकम्मेपनसे बचके, निषिद्धकर्मका त्याग करके, कामनाओंको शान्त करके, निःसंकल्पता एवं आत्मचिन्तन जीवनका मुख्य साधन है। आत्म-चिन्तन व्यवहार विरोधी नहीं है, निष्काम भावसे व्यवहार करते हुये भी आत्म-चिन्तन हो सकता है। आत्म-चिन्तनके बिना व्यवहारमें दीनता, हीनता, मलिनताका भाव नहीं मिटेगा; अशान्ति दुःख और मूर्खता बनी ही रहेगी। अतः सावधान रहना चाहिये।

5-1-85

❑

: 6 :

कर्तापन-एक भ्रम

कर्म होते हैं। उनका उपादान क्या है- प्रकृति, तीन गुण, ईश्वर, अनेक वस्तुओंका मिश्रण अथवा और कुछ ? इस विषयमें बहुत मतभेद हैं। काल, अपूर्व, कर्म, स्वभाव, आकस्मिकता-अनेक प्रकारके विचार हैं-कर्मोंके निमित्त और उपादानके सम्बन्धमें। मुख्य बात यह नहीं है कि कर्म हो रहे हैं या नहीं, यह भी मुख्य नहीं है कि वे सकाम हो रहे हैं या निष्काम- मुख्य बात यह है कि आप अपनेको उनका कर्ता मानते हैं कि नहीं ? अनिर्वचनीय कारणसे हुये कर्मका अपमेको कर्ता बताना आकाशमें चमकते हुये तारोंको अपनी रचना बतानेके समान है। अभिमान कर लीजिये, प्रारब्धको दोष दे लीजिये, वासनाओंके नचाये नाच लीजिये, समाजकी उठती-बहती, बदलती, छलकती, इठलाती, इतराती लहरमें बह जाइये !

ठीक है, परन्तु आप यथार्थको पहचानते हैं कि नहीं ? अपनेको कर्मका कर्त्ता मानना अज्ञान है। कर्मके फलका भोक्ता मानना भी अज्ञान है। वह भोक्ता चाहे इस लोकमें बने चाहे परलोकमें- कर्त्ता-भोक्ता भ्रम है। नरक-स्वर्ग अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार मिलते हैं। आत्माकी परिच्छिन्नता भी दृश्य है, वह आत्माका स्वरूप नहीं हो सकती। दृश्यसे द्रष्टा अनोखा, अनूठा, विलक्षण होता है। अपनी अद्वितीयता, पूर्णताके बोधसे परिच्छिन्नताका भ्रम मिटता है। अतः अपनेको जानिये। भ्रान्ति-मूलक कर्तापन, भोक्तापन, संसारीपन एवं परिच्छिन्नपनका बाधकर दीजिये। कर्म होते हैं तो होने दीजिये। नहीं होते हैं तो जाने दीजिये। आपका व्यक्तित्व मस्त-मौला है, परमानन्द है, जीवन्मुक्त है- चाहे जैसे रहिये !

7-1-85

❑

अनिर्वचनीय

अनिर्वचनीय माने क्या ? जो एक दृष्टिसे कुछ और, दूसरी दृष्टिसे कुछ और जान पड़े उसको क्या कहेंगे ? एक दृष्टिसे उसको सही नहीं कह सकते, दूसरी दृष्टिसे उसको झूठ नहीं कह सकते। तब अनिर्वचनीय हो गया ना ? निर्वचन अर्थात् पूरी तरहसे किसीका निरूपण है कि नहीं- क्या बोलें ? जो एक स्थानसे पश्चिम होता है वही दूसरे स्थानसे पूर्व होता है। जो एक स्थानसे ऊपर होता है वही दूसरे स्थानसे नीचे होता है, तब वह क्या है ? पूर्व या पश्चिम ? ऊपर या नीचे ? बोलो ना ! जो एककी दृष्टिसे माँ है, वही दूसरेकी दृष्टिसे बेटी है। जो एक दृष्टिसे बाप है, वही दूसरेकी दृष्टिसे बेटा है। माँ कि बेटी ? बाप कि बेटा ? अपनी-अपनी दृष्टि ही एक को अनेक करके दिखाती है। तब, क्या दृष्टि अलग-अलग होती है ? नहीं। विषयके भेदसे दृष्टिमें भेद होता है। तब, एक दृष्टिसे वस्तु है, दूसरी दृष्टिसे दृष्टि ही है। हो गया ना अनिर्वचनीय !

अपनेको देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, शान्त अर्थात् व्यक्तित्वसे तादात्म्य करके-मिला करके जब दृश्यको देखोगे, तो उसे झूठ नहीं कह सकते। परन्तु जब इनका अपवाद करके, इन्हें बट्टेखातेमें डालकर-देश, काल, कल्पनासे मुक्त होकर स्वयं अपनेको ब्रह्म जानकर जब देखोगे, तब दृश्यको सत्य नहीं कह सकते। यही है अनिर्वचनीयता। तुम कहाँ बैठ कर देख रहे हो ? क्या बनकर देख रहे हो ? कितने पहले-पीछे तक देख रहे हो ? बस, भ्रमके चक्रवातमें फँस गये।

अज्ञानीकी दृष्टिसे जो सत्य है, ज्ञानीकी दृष्टिसे वह सत्य नहीं कहा जा सकता और ज्ञानीकी दृष्टिसे जो सत्य है, वह अज्ञानीकी दृष्टिसे सत्य नहीं कहा जा सकता। बस, वह हो गया अनिर्वचनीय। संसारी लोग इसीमें फँसे हैं।

झूठै लेना, झूठ ही देना। झूठ ही भोजन, झूठ चबेना॥

8-1-85

❑

: 8 : आसक्ति कहाँ तक ?

आरम्भमें ऐसा मालूम पड़ता है कि अपनी मौजसे जो काम मैं कर रहा हूँ, उसको जब चाहूँ, छोड़ सकता हूँ। मेरा बुलाया हुआ है, माना हुआ है, वशमें है। परन्तु थोड़े दिनोंका अभ्यास होने पर उसकी आदत पड़ जाती है और उसको छोड़ना बहुत कठिन हो जाता है। यदि उस काम में दूसरोंका सहयोग हो तब तो और भी कठिन बन्धन हो जाता है। अत: जिस कर्मको कम-से-कम जीवन-भर निभा सकते हों उसमें निष्ठा रख सकते हों, उसीकी आदत पड़ने दीजिये। आप जिससे प्रेम करते हैं, जीवन भर कर सकें। आप जो काम करते हैं, वह अन्तिम क्षण तक अपनी निष्ठाके रूपमें रह सके। जो आजीवन निष्ठाके रूपमें न रह सके, उस निषिद्ध कर्मको मत कीजिये। चाहे मना करने वाला शास्त्र हो, गुरुजन हों, समाज हो, अपनी बुद्धि हो- मना किया हुआ काम छोड़ दीजिये। हिचकिये मत। बिचकिये मत। लचकिये मत। उसे छोड़ दीजिये। जो काम आप कर रहे हैं, क्या वह करनेसे ही आपको संतोष या तृप्ति नहीं है ? उसका कुछ फल चाहते हैं ? तब, वह दो कौड़ीका काम हो गया। फल मुख्य, कर्म गौण। अच्छा, मान लिया कि आप फल नहीं चाहते हैं, आपकी कर्मोंमें फलासक्ति नहीं है, बहुत बढ़िया। धन्यवाद ! परन्तु, क्या आप उस कर्मको पूरा करना चाहते हैं ? उसको पूरा कर लेना आपके हाथमें है ?

कर्म पूरा करनेके लिये नहीं किया जाता। कर्म पूरा करना अपने हाथमें नहीं है। वह समय भरनेके लिये है। कर्म करते जाइये बस, आगे बढ़िये। आप समझते हैं कि कर्म पूरा करना आपके हाथमें नहीं है, फिर भी करते जा रहे हैं- करनेका अभ्यास है। बिना किये रह नहीं सकते। आपका कर्तापन बहुत दृढ़ है। यही आपको तब दु:खी करेगा, जब आप कर नहीं सकेंगे। फिर तो अपनेको अकर्ता समझना आवश्यक है। परन्तु, अकर्तापनको बोझा बनाकर अपने सिर पर मत थोपिये। अकर्तापन भी एक अभिमान ही है। फलासक्ति, कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति अकर्तृत्वासक्ति- इन चारोंसे आप तब छूटेंगे, जब आत्माकी पूर्णताका बोध होगा। आ जाइये हमारे साथ। आप पूर्ण हैं।

9-1-85

❑

सच-झूठ !

आप जब किसी शब्दका उच्चारण करते हैं, जैसे घट- तो पहले 'घ'का उच्चारण होता है, वह नष्ट हो जाता है और फिर 'ट'का उच्चारण होता है- वह भी नष्ट हो जाता है। इन दोनों वर्णोंको जोड़नेसे अन्तःकरणमें जो घट शब्दका संस्कार डाला गया है, वह जागकर घट पदार्थका बोध कराता है। यदि आपके अन्तःकरणमें घट-पदार्थका संस्कार न हो, भारतीय-भाषाओंका ज्ञान न हो तो एक जंगली, पहाड़ी या विदेशी व्यक्तिको घट-पदार्थका बोध नहीं हो सकता। घट क्या है ? नीचे पेंदी, बड़ा पेट, छोटा गला, ऊपर मुँह-जब यह संस्कार पहलेसे रहेगा तभी घटका शब्द-बोध होगा।

इसी प्रकार जो कर्म हम करते हैं, वह क्षण-क्षण नष्ट होता जाता है। कर्म नहीं रहता है, द्वितीय क्षणमें ही नष्ट हो जाता है। परन्तु, उस कर्मके सम्बन्धमें अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, सुख-दुःखकी कारणता- जैसी अन्तः-करणमें डाली हुई है-उसीके अनुसार फलावृत्तिका उदय होता है। इसी संस्कारको अदृष्ट या अपूर्व कहते हैं, जो तत्काल भी या बहुत विलम्बसे भी फलाकार परिणामको प्राप्त होता है। इसी संस्कारके अनुसार अन्तःकरणमें कभी स्वर्ग, कभी नरक, कभी पुनर्जन्म बन जाता है और स्थूल देह छूट जाने पर भी बिना देशान्तरमें गये, बिना कालान्तर हुये, बिना द्रव्य-परिवर्तनके ही मनमें वैसा-वैसा अनुभव होने लगता है। वह सब होना स्वप्नके समान ही है, परन्तु इससे उसको झूठ समझना भूल है।

यह जाग्रत् भी वैसा ही है, परन्तु सच लगता है। जब तक आत्माको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें नहीं जाना जाता, तब तक जैसे जाग्रत् सत्य है, वैसे ही नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म, वैकुण्ठ, गोलोक- सब सत्य हैं। ब्रह्म-ज्ञानके पूर्व क्षण तक ये सत्य ही रहते हैं। यह सब व्यावहारिक सत्य हैं और आत्माकी ब्रह्मरूपता परमार्थ सत्य है। व्यवहारमें गड़बड़ नहीं करना चाहिये, सब ठीक-ठाक करते चलना चाहिये। सदाचारको मिथ्या कभी नहीं कहना चाहिये।

10-1-85

❑

: 10 :

आप जो चाहते हैं !

आप क्या चाहते हैं-धन, भवन, ऐश्वर्य, परिवार, प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति, धर्म, कर्म, भोग, योग, मोक्ष, संयोग, वियोग-कुछ भी तो बताइये ? यदि आपको ऐसा लगता है कि इनमें-से कुछ आप चाहते हैं तो वह आपका भ्रम है। आप इनमें-से कुछ भी नहीं चाहते हैं। आप इनसे होने वाला सुख चाहते हैं। ये सब अलग-अलग हैं और सुख एक है। सब पुरुषार्थोंका सार वही है। वह सुख है, सुख है, सुख है- और कुछ नहीं है।

आप कैसा सुख चाहते हैं- जो कभी रहे, कभी न रहे ? नहीं-नहीं। आप ऐसा सुख चाहते हैं, जो सदा-सर्वदा रहे, हमेशा रहे, टूट-टूटकर न हो, लगातार रहे। याद रखिये-ऐसा सुख क्या है ?

आप ऐसा सुख चाहते हैं क्या- जो यहाँ रहे, वहाँ न रहे ? नहीं। यहाँ भी रहे, वहाँ भी रहे- ऐसा सुख चाहते हैं। सब जगह रहे- ऐसा सुख क्या है- ध्यान दीजिये।

क्या आप ऐसा सुख चाहते हैं- जो इससे मिले, उससे न मिले ? नहीं। आप ऐसा सुख चाहते हैं, जो इससे, उससे, सबसे, सब समय, सब जगह मिले, मिलता ही रहे।

अच्छा, यह बताइये कि क्या आपको ऐसा सुख चाहिये जो पराधीन हो? दाता कभी दे, कभी न दे। कुछ दे, कुछ न दे। कहीं दे, कहीं न दे। सचमुच ऐसा पराधीन, गुलामीका सुख आप नहीं चाहते हैं। आप स्वतंत्र सुख चाहते हैं।

अच्छा, तो आप जो बहुत परिश्रमसे मिले, ऐसा सुख चाहते हैं ? ना-रे-ना, आप सुख चाहते हैं, जिसमें परिश्रम न करना पड़े अथवा कम-से-कम परिश्रम करना पड़े। हाँ, तो आप ऐसा सुख चाहते हैं।

आपको यह मालूम है कि सुखकी ज्ञातसत्ता ही होती है, अज्ञातसत्ता नहीं। अर्थात् सुख चमचम चमकता हुआ, झिलमिल झलकता हुआ, जगमग जगमगाता हुआ अपनी बाँकी झाँकीकी झलक आपको दिखाता रहे। आप अज्ञात-सुख नहीं चाहते हैं, ज्ञात सुख ही चाहते हैं।

आइये, आप सबको जोड़ लीजिये। सुख-ही-सुख। सब समय। सब जगह। सब चीजमें। स्वतंत्र। परिश्रम-रहित और मालूम पड़ता हुआ- ऐसा सुख आप चाहते हैं। क्यों भाई, यदि ऐसे सुखका एक नाम रखना हो तो उसके लिये परमेश्वर या भगवान्‌के सिवाय और क्या नाम हो सकता है ? वह आपका आत्मा हो, ब्रह्म हो या जगदीश्वर हो।

हम आपसे यह नहीं कहते कि आप भगवान् या ईश्वरको चाहिये। हम आपसे यह भी नहीं कहते कि आत्मा, ब्रह्मके स्वरूपका विचार कीजिये। हम तो यह कहते हैं कि वस्तुतः आप जो कुछ चाहते हैं, वह परमेश्वर ही है।

भूलसे खोटी-खोटी, छोटी-छोटी, मोटी-मोटी चीजोंको आप अपना इच्छित पदार्थ मान बैठते हैं- मुझे यह चाहिये, वह चाहिये, यहाँ चाहिये, वहाँ चाहिये, अब चाहिये, तब चाहिये, ऐसे चाहिये, वैसे चाहिये। असलमें जो चाहते हैं, उसपर पर्दा पड़ जाता है।

छोटी वस्तु महान्‌को दबा देती है। विनाशी वस्तु अविनाशी पर हावी हो जाती है। तोला ने मन को दबा लिया। हाँ, तो इस मूलको आमूल चूल समझिये। इसको तूल मत दीजिये। पूर्ण-से-पूर्ण पूर्णताके बोधसे, इस भ्रांतिको, इस अविद्याको चूर्ण-चूर्ण करके उड़ा दीजिये। आप परमार्थतः जो चाहते हैं, उसको यदि समझ जायेंगे, तो वह आपके पास ही होगा। प्रत्युत् उसे पास कहना भी दूर बनाना होगा। देर न कीजिये। दूसरा मत बनाइये। वह स्वयं आप हैं, वह अनन्त-सुख आप हैं या आपके हृदयका अन्तर्यामी परमात्मा है।

मिलेइ रहत मानो कबहूँ मिले ना।

12-1-85

❑

: 11 :

दु:खी क्यों हैं ?

मूल प्रश्न यह है कि आप दु:खी हैं या नहीं ? सर्वदा दु:खकी छायामें जीवन व्यतीत करना और कभी-कभी माया मोहके चक्रवातमें फँसकर हँस देना-जीवनका कोई तत्त्व या सार नहीं है। कभी आपने सोचा है कि आप दु:खी क्यों होते हैं ? निश्चय ही आप कोई भोगकी सामग्री चाहते हैं। वह भोग चाहे कानसे हो, त्वचासे हो, नेत्रसे हो, रसनासे हो, नासिकासे हो या मन-ही-मन हो। वह भोगकी वस्तु न मिलने पर आप अपनेको दीन, हीन, दु:खी मान बैठते हैं।

अच्छा छोड़िये इस बातको। आप अपने 'मैं'- की या अभिमानकी पूजा-प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये कुछ संग्रह करना चाहते हैं ? वह चाहे धन हो, जन हो, भवन हो, विद्या हो, बुद्धि हो। निश्चित ही जो-जो आपके पास नहीं है उसको इकट्ठा करके अपने व्यक्तित्वके अभिमानको बढ़ा-चढ़ा देखना चाहते हैं। जब यह पूजा नहीं हो पाती या इसमें कोई बाध पड़ जाती है तब आप दु:खी हो जाते हैं। क्यों, है न ऐसा ?

आप वर्तमान में सन्तुष्ट नहीं रहते। या तो भूतकी गयी-बीती सोचते रहते हैं- भूत-सुख सोचकर भी दु:खी होते हैं- हाय-हाय, अब वह नहीं रहा और भूत-दु:ख सोचकर भी दु:खी होते हैं- हाय रे, मैंने इतना दु:ख उठाया या भविष्यके सुखकी कल्पना या दु:ख-कल्पनासे फूलते-पटकते रहते हैं। आपका जीवन-कल्पनाके जाल-जंजालमें इतना-इतना उलझ गया है कि वर्तमान व्यर्थ नष्ट होता जा रहा है। इस पर आपका ध्यान-अवधान ही नहीं जाता। तब क्या आप मनोराज्यमें जी रहे हैं ? यह दिवा-स्वप्न कभी सफल होता है, कभी नहीं होता है। फिर तो आप अपनेको स्वयं दु:खके बड़वानलसे जलानेका प्रयास कर रहे हैं। वर्तमानको देखिये न ! क्या आपका वर्तमान मर गया है ? इसको उज्जवल बनाइये, निर्मल बनाइये, चमकाइये। वही आपका जीवन काल है। उज्जवल वर्तमान में-से पीछे जानेवाला भूत और सामनेसे आने वाला भविष्य- दोनों ही रसमय, मधुमय, लास्यमय बन जायेंगे।

इधर भी देखिये। आपने बचपनसे अबतक जानमें, अनजानमें कुछ ऐसी आदतें अपने जीवनमें जोड़ ली हैं, कुछ ऐसा मोड़-तोड़ आपके दिलको फोड़ता रहता है कि जब उस आदतके अनुसार काम न हो तो आप दुःखी हो जाते हैं।

हाँ, तो आपके दुःखका कारण क्या है- भोगकी वासना, संग्रहमें लोभ-प्रवृत्ति, मनोराज्यका जीवन और आदतोंकी गुलामी ? ये चारों ही आपको दुःखी बना रहे हैं । इनके चक्करमें आप क्यों फँसे ? अपनी मूल-भूत इच्छाके विषय- सच्चे सुखको भूलकर। छोटे-छोटे भोगों, संग्रहों, मनोराज्यों तथा आदतोंमें बँध जानेके कारण। आप इनपर एक गम्भीर एवं तीक्ष्ण दृष्टि डालिये और इनसे बचकर जो सच्चा सुख है जिनका नाम परमेश्वर है, आत्मा है, ब्रह्म है- उनको जानने, समझने एवं अनुभव करनेका प्रयास कीजिये। जब तक उसको नहीं जानेंगे, तब तक आप दुःखी बने रहेंगे।

13-1-85

❑

: 12 :

आपका सुख कहाँ है ?

आप आभूषण- कंगन हार आदि तुड़वाकर उनको नयी रूप-रेखा क्यों देना चाहते हैं ? एक-बार साड़ी पहनकर क्यों बदल देना चाहते हैं ? एकसे मैत्री हो जाने पर फिर क्यों दूसरेके साथ जोड़ना चाहते हैं ? वस्तु परिवर्तन होता रहता है। कोई भी वस्तु बहुत दिनों तक एक-सी प्रिय नहीं रहती। वस्तुमें नर्तन-परिवर्तन है, बदलना ही उसका स्वभाव है। आपको सर्वदा सुखी नहीं रख सकती है। इन्द्रियोंमें जो भोग-उपभोगकी शक्ति है, वह भी एक-सी नहीं रहती, क्षीण होती जाती है। वस्तुयें तो बदलती ही हैं, इन्द्रियोंकी शक्ति भी बदलती है। 17-18 वर्षकी जवानी जब 25-35, 55-75 को छूती है, तो सारा रूप-रंग बदल जाता है। दाँत, होठ, चाम, स्वर, बल पौरुष तो बदलते ही हैं, भोगमें पहले जैसी रुचि भी नहीं रहती है।

कोई चाहे कि मैं निरन्तर भोग और उसके उद्योगमें ही लगा रहूँ तो यह भी सम्भव नहीं है। आराम चाहिये, विश्राम चाहिये, उपराम चाहिये। गाढ़ सुषुप्ति चाहिये। कब तक भोक्ता बने रहेंगे ? हाथ-पाँव शिथिल हो जायेंगे, मन विवश होकर सो जायेगा। आप इन्हीं वस्तुओंसे, इन्द्रियोंसे, रुचियोंसे तथा भोक्तापनके अभिमान से अपनेको सुखी करना एवं रखना चाहते हैं-यह कितनी विडम्बना है !

आप अपने सुखके लिये इन बाहरी वस्तुओंका चुनाव क्यों करते हैं ? धन सर्वदा बाहर रहने वाली वस्तु है। उसमें सुखकी कल्पना करनी पड़ती है। भोगका सुख मनमें रहता है। कुछ अंतरंग अवश्य है, परन्तु क्षणिक है। अभिमानका सुख उसकी अपेक्षा भीतर बुद्धिमें रहता है, परन्तु संसारमें जितना दुःख आता है, इस अभिमानको ही प्रभावित करता है। अभिमानी व्यक्ति पर ही चपत पर चपत लगती है। अभिमानीको ही शोक, मोह, भयकी प्राप्ति होती है। बीते हुयेके लिये शोक, वर्तमानको पकड़ रखनेका मोह और

आनेवालेके लिये भय-अभिमानके ही आश्रित रहते हैं। इन सब दुःखोंसे छुटकारा और परमानन्दकी प्राप्ति-वह अपने आत्माके ही नाम हैं। इनमें वस्तु, करण, मन, बुद्धि किसीकी पराधीनता नहीं है। जहाँ है, जब है, जो है, जैसे-कैसे है, स्वयं परमानन्द-स्वरूप है। यह केवल परलोकके लिये नहीं है। इसी लोकमें, इसी जीवनमें, इसी देखने-सुनने वालेको इसका प्रत्यक्ष होता है और स्वतंत्रताका साक्षात्कार होता है। अभी-अभी, यहीं-यहीं, यही-यही और तुम्हीं-तुम्हीं परमानन्द हो- यह अनुभव ही महात्माओंकी स्थिति है। क्या आप यह अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं? कहीं जाइये मत, लौट आइये अपने घरमें, अपने स्वरूपमें। बस, आप देखेंगे कि उस पर कोई आवरण नहीं है, आप-ही-आप हैं।

14-1-85

❑

: 13 :

लौट आइये !

जो वस्तु अपने पास नहीं होती है उसको बनाना पड़ता है। जेवर नहीं तो बना लीजिये। अन्न नहीं है तो खेती कर लीजिये। कपड़ा नहीं है तो बुन लीजिये। यदि स्वयं नहीं बना सकें तो जहाँ मिलता हो वहाँसे ले लीजिये। प्रेमसे लीजिये, भेंटमें लीजिये, खरीदकर लीजिये- लेना पड़ेगा। मान लो, अब वह वस्तु अपने पास हो गयी और उसमें कोई मलिनता है, तो संस्कारके द्वारा उसको स्वच्छ कर लीजिये, सँवार लीजिये, चिकना लीजिये। यदि वह वस्तु कच्ची है तो पका लीजिये, कुछ मिला लीजिये, स्वादु बना लीजिये- सुन्दर, मधुर, सुकुमार, सुगन्धित कर लीजिये। यदि कामकी न हो तो उसे नष्ट कर दीजिये, फेंक दीजिये, जला दीजिये। यह पाँचों प्रकारकी क्रिया अपनेसे अन्य वस्तुके प्रति की जाती है।

आत्माको न बनाना है, न कहींसे लेना है, न इसका संस्कार करना है, न पकाना है और न नष्ट करना है। वह स्वतः सिद्ध है, नित्य-प्राप्त है, शुद्ध है-उसे परिपाककी आवश्यकता नहीं। न आत्मा फेंका जा सकता है, न नष्ट किया जा सकता है। तब इसमें कर्मका उपयोग कहाँ है ? इसको तो ज्यों-का-त्यों, जैसा-का-तैसा, जो है सो, जानना भर है। दूसरी वस्तु होती है तो जाननेके बाद पानी पड़ती है, पकड़कर रखनी पड़ती है, परन्तु, अपना आपा-आत्मा तो मिला-मिलाया है। उसको जाननेके बाद कुछ करना नहीं पड़ता , कुछ-सँवारना भी नहीं पड़ता। और किसीको जानना दूसरी बात है और अपनेको जानना दूसरी बात है। स्वर्ग-वैकुण्ठको जानकर पाना पड़ेगा । ईश्वरको जानकर भक्ति करनी पड़ेगी, परन्तु आत्म-ज्ञान प्राप्त होने पर, आत्माके साक्षात्कार या अनुभवके लिये कुछ भी नहीं करना पड़ता। यह साक्षात्कार न कर्मका फल है, न कर्मका हेतु। इस साक्षात्कारसे तो कर्म-फल, कर्ता और भोक्ता- ये सब-के-सब स्वप्नके समान ही केवल दृश्य-मात्र रह जाते हैं। जैसे स्वप्नमें कोई कर्ता, कोई भोक्ता, कोई पाप, कोई पुण्य, कोई सुख-दुःख न होने पर भी मालूम पड़ते हैं, वैसी ही यह जाग्रत्-अवस्था भी हो जाती है-वस्तुतः वैसी ही है।

15-1-85

❑

सुख-ही-सुख !

यह तो सर्वथा निर्विवाद रूपसे निश्चित है कि आपको अपनी मृत्युका अनुभव कभी नहीं हुआ है। दूसरोंका शरीर छूटते देखकर आप अपना शरीर छूटनेकी कल्पना कर लेते हैं और उसीको मृत्यु मानते हैं। मृत्यु एक कल्पना है, अनुभव नहीं। घटकी आकृति टूटती है, मृत्तिका ज्यों-की-त्यों रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि आप अमर हैं, अमृत हैं। अब यदि आप किसी मरने वालेसे, आकारसे, विकारसे, संस्कारसे, किसी विशेष प्रकारसे प्रेम करेंगे तो वह पहले मर जायेगा, आप जीवित रहेंगे। देहके रूपमें नहीं, आत्माके रूपमें। आप जीवित रहें और आपका प्रेमास्पद टूट जाये, फूट जाये, छूट जाये या लुट जाये, तो आपको बहुत पीड़ा होगी, कष्ट होगा। चाहे वह प्रेम गेहसे हो या देहसे हो, अनात्मासे प्रेम एक-न-एक दिन दुःखके रूपमें परिणत होकर आयेगा। मरनेवालेसे प्रेम आपको रुलायेगा। जड़से प्रेम एकांगी होगा। आप हीरा, मोती, सोना, चाँदीसे प्रेम करते हैं। उनको तो पता ही नहीं हैं कि आप उनके प्रेमी हैं। कोई खरीद ले, लूट ले, टूट जाये, वह कभी नहीं बतायेगा कि मैं अपने इन प्रेमी महोदयका हूँ, ये मेरे प्रेमी हैं, मैं इनके पास रहूँगा।

अच्छा तो जितनी जड़ वस्तुयें हैं, वे स्वातिकी जल-बिन्दु हैं और आप उनके चातक। वे चन्द्रमा हैं, आप चकोर। भले मानुष! आपने क्या सोच-विचारकर उनसे प्रेम किया है ? इन गद्दारोंसे जो आपको पहचानते तक नहीं, अपनेको फँसा देना मूर्खता नहीं तो और क्या है ? हाँ, तो मरने वालेसे प्रेम, जड़-वस्तुसे प्रेम- आपके लिये घातक है, पातक है। यह तो अपने दुःखकी उपज बढ़ाने वाले बीजकी खेती है। प्रीति कीजिये उससे, जो आपके आत्माके समान ही अजर अमर हो, चेतन हो और आपको पहचानता हो। आपको कभी धोखा न दे, दूर न हो, देर न करे, दूसरा न हो, अपना आपा ही हो। बस, आपको दुःखका मुँह नहीं देखना पड़ेगा। सारी विवशता-परवशता मिट जायेगी। आपका प्रेमास्पद अपने हृदयमें ही है। आप ही हैं। आपके जीवनमें कोई तनाव नहीं रहेगा। सुख-ही-सुख है !

16-1-85

❑

: 15 :

सावधन !

स्वच्छता आपको बहुत प्रिय है। घर, बिस्तर, वस्त्र, भोजन, शरीर सब स्वच्छ रहें- इसके लिये आप यथाशक्ति प्रयास करते रहें। धरती, पानी, दृश्य, स्पृश्य, ध्वनि- सभी स्वच्छ, निष्कलंक मिलें-ऐसा हम सब, आप एक राय से चाहते हैं। शरीर पर मिट्टी लग जाये, कोई दाग पड़ जाये तो उसको छुड़ानेके लिये आप भरसक प्रयत्नशील रहते हैं। मैं इस पसन्दको पसन्द करता हूँ। यह बनी रहे, बढ़ती रहे।

थोड़ासा आप अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश कीजिये ! वहाँ आपके संकल्पमें, इच्छाओंमें, विचारोंमें और स्थितियोंमें स्वच्छता कितनी रहती है- इस पर कभी ध्यान दिया है आपने ? जैसे ऊपर-ऊपर कपड़ा बहुत स्वच्छ हो और उसके भीतर शरीरपर मैल लगी हो-ऐसी ही स्थिति है उन लोगोंकी, जो अपने अन्त:करणकी गन्दगीको दूर करनेका प्रयास नहीं करते। उसपर एक पैनी दृष्टि डालिये !

आपका मन क्या-क्या करना चाहता है ? क्या-क्या भोगना चाहता है ? क्या-क्या पाना चाहता है और क्या-क्या बोलना चाहता है ? आप गिननेका प्रयास कीजिये। यह गिनती कभी पूरी नहीं होगी। बाजारमें जितने शो-रूम हैं, जितनी दूकानें हैं, जो कुछ उपलब्ध है-उसको पानेकी इच्छा कभी-न-कभी आपके मनमें आती है, आती रहेगी।

आपका मन क्या है ? भानुमतिका पिटारा। उसमें चाहे जो देख लीजिये-भला-बुरा। ईश्वर देखिये, जीव देखिये, पत्थर देखिये। चोरी, व्यभिचार, हिंसा, झूठ-सबकी झलक वहाँ मिलती है। तो क्या आप बाहरका सब कुछ स्वच्छ चाहते हैं, भीतरका नहीं ? आप वहीं तो रहते हैं। अन्तर्देश ही आपका मकान है, वस्त्र है, भोग है, कर्म है, वचन है। यदि मन ही गन्दा है तो आपकी बाहरी स्वच्छता किस कामकी ?

क्या आप इसी पोशाकमें रहना चाहते हैं ? या यही पोशाक लेकर ईश्वरके सामने जाना चाहते हैं ? सावधान !

18-1-85

❑

चिन्तन शुद्ध कीजिये !

कान, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका, हाथ, पाँव- ये सब बाहरके करण मानने, जानने व करनेके साधन हैं। इनका नाम है-बहिःकरण। इसी प्रकार शरीरके भीतर अन्तःकरण है। वह बाहरकी वस्तुओंका संस्कार अन्तः अर्थात् अन्दर, करण अर्थात् करनेका साधन, कर लेता है-इसलिये उनको अन्तःकरण कहते हैं। उसमें अं, कर्म, भाव, विचार, शान्ति, अशान्ति सबका निवास है। वह कोई स्थूल वस्तु नहीं है कि उसे मिट्टी-पानीसे स्वच्छ किया जाये। उसको स्वच्छ करनेके लिये शुद्ध भोजन चाहिये। अभिप्राय यह है कि सुनना, छूना, देखना, स्वाद लेना, सूँघना, चिन्तन करना- सब शुद्ध होना चाहिये। कोई आहार-शुद्धि, कोई कर्म-शुद्धि, कोई भाव-शुद्धि और कोई निःसंकल्प स्थितिको अन्तःकरण शुद्धिका साधन मानते हैं। यदि सब हों तब तो कहना ही क्या ? तत्काल अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा।

गम्भीर निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि अन्तःकरण चिन्तनरूप ही है। आप जैसा चिन्तन करेंगे, अन्तःकरण शरीर वैसा ही हो जायेगा- कभी भेड़के काले बालके कम्बल जैसा, कभी सफेद बालके कम्बल जैसा, तो कभी वीर-बहूटी रंग जैसा, तो कभी धूप-छाँव जैसा। यह सब आपके तमोगुणी, सत्त्वगुणी, रजोगुणी, या मिश्रित अन्तःकरणके ही रूप हैं। यह रूप-परिवर्तन चिन्तनके परिवर्तनका ही द्योतक है। क्योंकि वृत्ति-ज्ञानरूप अन्तःकरण अपने विषयोंके भेदसे ही अनेक वृत्तिवाला होता है। यदि आप अपना अन्तःकरण स्वच्छ, पवित्र, निष्कलंक, निश्चल या सूक्ष्म-वस्तुग्राही बनाना चाहते हैं, तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुका ही चिन्तन कीजिये।

अन्तःकरण न लम्बा होता है, न चौड़ा, न सेर, न सवा सेर, न क्षण, न कल्प। वह तो केवल चिन्तनमात्रा-वस्तुका भान ही अन्तःकरणका स्वरूप है। ऐसी स्थितिमें यदि आप चिन्तनकी दिशा मोड़ देते हैं, शुद्ध-वस्तुका चिन्तन करने लगते हैं, तो आपका अन्तःकरण शुद्ध है- ऐसा समझना चाहिये। शुद्ध-वस्तु केवल परब्रह्म परमात्मा है, जो कि अपना आत्मा ही है। आप अपने जाने हुये अनात्माका चिन्तन छोड़ दीजिये और शुद्ध आत्मा, परमात्माका चिन्तन करने लगिये। आपका अन्तःकरण शुद्ध है और परमात्माके साथ एक होनेके योग्य है !

19-1-85

❑

: 17 :

सहज-कठिन

सत्य बोलना सुगम है। कहना हो तो कह दिया, अनावश्यक हो तो चुप हो गये। जो बोलकर हम अपना और सुननेवालेका समय नष्ट करते हैं उसका कुछ उपयोग है कि नहीं ? श्रोताका वह क्या हित करेगा ? अपने मनकी भड़ाँस भले ही निकाल लीजिये। देखिये, हम यह कहना चाहते हैं कि सत्यका मस्तिष्क पर कोई भार नहीं होता। ज्यों-का-त्यों बोल दीजिये, मत बोलिये। जब आवश्यकता होगी, बोल देंगे। सत्यका कोई बोझ, भार सिरपर नहीं रहता है। असत्य बोले तो किससे, कब, क्या बोला है- कहीं उसके विपरीत न बोल दें, इसका बोझा बुद्धिमें रखना पड़ता है। सत्य अप्रयत्न-सिद्ध है एवं असत्य कृत्रिम तथा अनेक रूप है। सत्य अपने स्वरूपमें रहता है और असत्य बनावटमें। क्या कोई सर्वदा असत्य भाषण कर सकता है ? यदि वह अपनी भाषाके नियम और शब्द निश्चित कर लेगा, तो वह भी सत्य हो जायेगा। लोग यह समझने लग जायेंगे कि यह थालीको लोटा कहता है या लोटाको थाली कहता है। बार-बार अपनी भाषा भी बदलनी पड़ेगी। असत्य जीवनमें एक भार हो जायेगा। सत्य हल्का-फुल्का है। अपने स्वरूप में स्थितिका मार्ग है।

यही स्थिति अहिंसाकी भी है। क्या कोई निरन्तर हिंसा करते रह सकता है ? क्रोधका आवेश या द्वेषकी जलन निरन्तर अपने हृदयमें बनाये रखना संभव है क्या ? परन्तु, अहिंसा तो सर्वदा रह सकती है। न तो उसका भार है, न कुछ करना है। है न, हिंसासे सुगम अहिंसा ? सहज-स्वभाव। इसीसे सत्य, अहिंसा सद्गुण हैं, असत्य तथा हिंसा दुर्गुण हैं। दु माने दुष्ट, दुःखदायी। जैसे गुण्डा घरमें रखने योग्य नहीं होता, वैसे ही असत्य एवं हिंसा भी हृदयमें रखने योग्य नहीं होते। ये बाहरसे आते हैं। इनको स्थान न देना ही श्रेयस्कर है।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। सद्वस्तु, चिद्वस्तु, आनन्द वस्तु न कहीं चोरी जा सकती है और न तो उसे हम चोरीसे ला सकते हैं। बिना चोरीके हम अनन्त काल तक रह सकते हैं। क्या चोरीको भी निरन्तर कोई अपने जीवनमें रख सकता है ? चोरी अस्वाभाविक है, भयावह है, दुःखदायी है, तनाव उत्पन्न करने वाली है। आप चोरी न करनेके व्रतको जीवन भर रख

सकते हैं, परन्तु निरन्तर चोरी करनेका व्रत नहीं रख सकते। तब आप सहज स्वभावमें रहिये न ! सत्स्वरूपके निकट होनेके कारण सदाकार होनेके कारण, सत्य, अहिंसा, अस्तेय सद्गुण हैं।

अच्छा, ब्रह्मचर्यकी बात लीजिये उसको भी उसी तराजू पर तौलिये। ब्रह्मचर्य सर्वदा रह सकता है। परन्तु ब्रह्मचर्यका भंग अत्यन्त अल्प समयतक ही रह सकता है। ब्रह्मचर्य शाश्वत है और उसका भंग क्षणिक है। भोगके निमित्त न मिलनेपर दुःख देते हैं, भोगाकार-वृत्तिमें अपूर्णता रहती है। अधिक भोगवालोंसे स्पर्धा होती है। ईर्ष्या भी आ जाती है। न मिलनेका भय होता है। आदत पड़ जानेसे हम उसके गुलाम हो जाते हैं। ब्रह्मचर्यमें न छल है, न कपट। सदा सरल, निर्विकारका उपलक्षण। आपने भोगका रस बहुत ले लिया, आइये लौट आइये। इस ब्रह्मचर्यका विकार रहित रस लीजिये ! वृत्ति निर्विकार नहीं होगी तो महात्मा भी निर्विकार नहीं होगा। महात्मा निर्विकार नहीं होगा तो ब्रह्मका अनुभव ही नहीं होगा। ब्रह्मचर्यके शारीरिक, मानसिक व वाचिक रूपोंकी पोशाक धरण कीजिये। आप ब्रह्मचारी नहीं, ब्रह्म हैं !

आपके चारों ओर जो वस्तुयें रखी रहती हैं, आती-जाती रहती हैं या बदलती रहती हैं-वे क्या आपके लिये अनिवार्य हैं ? जैसे शरीरपर मैल, घरमें धूल, वैसे मनमें परिग्रहका ढेर। आप यह मत कहिये कि यह मेरी कमायीका है, मेरे हकका है, मेरा है- मैं क्यों न रखूँ ? आप अपने सिरपर बोझ लाद रहे हैं। ऊँट पर चढ़कर चल रहे हैं, परन्तु पोटली अपने सिर पर लाद रहे हैं। धन्य है आपकी बुद्धिको ! मेरा-मेरा करके, अपना कल्पित स्वत्व स्थापित करके, आप अपनेको बोझिल बना रहे हैं और बनावटी वस्तुओंसे एक सत्य वस्तुको ढँक रहे हैं। आप ही सत्य हैं। ये राशि-राशि वस्तुएँ आपके यथार्थ स्वरूपकी आवरक हैं। आप इनसे पिण्ड छुड़ाइये। आपका अपनी ओर देखकर सुखमय, सौभाग्यमय, मधुमय, रसमय क्षण प्राप्त होगा। आप देख सकेंगे कि आपने कितनी कीमती हीरेको कचरेके ढेरमें डाल दिया था।

सद्गुण सहज, दुर्गुण कठिन।

23-1-85

❑

: 18 :

साधन एक, नाम अनेक

साधन दो प्रकारके होते हैं। एक वह- जिसके द्वारा हम अपने लक्ष्यको पहचानते या प्राप्त करते हैं। दूसरा वह- जो प्राप्त होता है, अनुभव होता है या लक्षित होता है। अर्थात् लक्ष्यका शोधन। अन्तःकरण परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। अतः उसको शुद्ध करनेके लिये जो कुछ किया जाता है, उसको बहिरंग साधन कहते हैं। जैसे बन्दूकसे लक्ष्यपर गोली चलानी हो तो बन्दूककी सफाई करणकी शुद्धि है और लक्ष्यको ठीक-ठीक देख लेना- यह लक्ष्यकी शुद्धि है। करणकी शुद्धि बहिरंग है, लक्ष्यकी शुद्धि अन्तरंग है। परमात्माके लिये क्रमशः विवेक-वैराग्य तथा श्रवण-मननादि बहिरंग-अंतरंग होते हैं।

अच्छा, तो अब आइये, विवेक कीजिये! आपको अपने ही ज्ञानसे जो अपना स्वरूप न मालूम पड़े उसकी ओरसे अपने मनको हटा लीजिये। आपकी दृष्टि से जो अनित्य है, जड़ है, दुःख है- उसमें मन लगानेकी प्रवृत्तिको रोकिये। आप स्वयं तो रहेंगे ही। बस, शान्ति है!

इस आत्मा और अनात्माके विवेकसे अर्थात् पृथक्करणसे अनात्माके प्रति वैराग्य उदय होगा। विवेकसे स्वरूप-स्थिति भी शान्ति है और वैराग्य यानी राग-द्वेषकी निवृत्ति भी शान्ति ही है। अतः विवेक और वैराग्यके फलमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि पहले विवेक होगा, पीछे वैराग्य। दोनों साथ-साथ भी हो सकते हैं। परन्तु ये दोनों दो नहीं हैं, फलस्वरूपसे शान्ति ही है।

आप यह मत सोचिये कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये अथवा सत्यके साक्षात्कारके लिये बहुत-से-साधन करने पड़ते हैं अथवा बड़े कठिन-कठिन साधन करने पड़ते हैं। गम्भीरतासे अनुभव कीजिये-मनमें काम-क्रोधका न आना शम है, वह शान्ति ही है, इन्द्रियोंका चंचल न होना दम है, वह भी तो शान्ति ही है, कर्म-विक्षेपकी निवृत्ति उपरति है, वह भी शान्ति है, दुःख-विक्षेपकी शान्ति तितिक्षा है। अभिमान-विक्षेपकी शान्ति श्रद्धा है। अपने

संकल्पों या विचारोंको समेट लेनेका नाम समाधन है। इनके नाम अलग-अलग हैं, परन्तु इनका स्वरूप शान्ति है। इसलिये साधकको बहुत-से नाम सुनकर घबड़ाना नहीं चाहिये। निराश मत हो, उदास मत हो- यह तो सब एक ही निःसंकल्प जाग्रत्के नाम हैं। इनमें एक ही वस्तु है- केवल शान्ति, शान्ति, शान्ति ! यह शान्तिकी दशा जब निरन्तर नहीं रहती और यह निश्चय हो जाता है कि चित्त सदा एक स्थितिमें नहीं रह पाता, नहीं रह सकता, तब चित्तसे मुक्त होनेकी तीव्र आकांक्षा जाग्रत होती है। आने-जाने वाले विनश्वर पदार्थोंसे मुक्त होकर अपने परमानन्द अद्वितीय स्वरूपके अनुभवकी इच्छा, अर्थात् मुमुक्षा।

हाँ, तो अब यह विचार कीजिये कि जब सब साधनोंका अन्तिम स्वरूप शान्ति ही है तो, उनके नाम अनेक क्यों हैं ? अनेक इसलिये हैं कि शान्ति एक होने पर भी उसके कार्य पृथक्-पृथक् हैं। काम-क्रोधको मिटाने वाली शान्ति, इन्द्रियोंके विक्षेपको मिटाने वाली शान्ति इत्यादि। इसको संस्कृत भाषामें ऐसे बोला जायेगा- व्यावर्त्यके भेदसे व्यावर्तकका भेद है, वस्तुतः शान्ति-ही-शान्ति है। अतः बहिरंग- साधन इतना सुगम, इतना सरल है कि थोड़ी-सी सावधानता आपको सम्पन्न बना देगी और आप सद्गुरुके पास पहुँचकर अन्तरंग-साधन श्रवण-मननादिके योग्य हो जायेंगे।

24-1-85

❑

: 19 :

चित्त-वित्तका त्याग

सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाये तो चित्तकी आदि नहीं मिलती है। पहले कर्म हुआ या पहले चित्त ? कर्मसे चित्त बनता है। चित्तसे कर्म होता है। दोनोंसे शरीर होता है। शरीरमें दोनों रहते हैं। ऐसी स्थितिमें चित्त, कर्म, शरीरकी परम्परा अनादि है। इसमें इतने संस्कार भरे हैं, इतने आकार-प्रकार धरे हैं कि एक-एक करके यदि उनका अन्त करना चाहें तो कोई भी उनका अन्त नहीं कर सकता। अच्छेसे भी गहराईमें बुरे हैं, तो बुरेसे भी गहराईमें अच्छे हैं। कौन, कब प्रकट हो जाये इसका नियम नहीं है, क्रम नहीं है। यहाँतक कि भगवदाकार वृत्ति भी सुषुप्तिमें लुप्त हो जाती है। तो वह सुषुप्तिमें स्थित अनादि संस्कारोंको कैसे मिटा पायेगी ? जाग्रत्-स्वप्नमें वृत्त्यन्तर ही कर सकती है।

यद्यपि निरोध-दशामें सुषुप्तिका भी निरोध हो जाता है, परन्तु व्युत्थान होने पर फिर पूर्ववत् संस्कारानुसार वृत्ति-प्रवाह ही होता है। यहाँ तक कि निरोध दशामें भी संस्कारोंकी प्रवाह-वाहिता बनी रहती है। ऐसी परिस्थितिमें चित्तगत स्थिति, ज्ञान और सुख स्थायी नहीं हो सकते। चित्त-दशाके परिवर्तनसे उनमें परिवर्तन होता ही रहेगा। ऐसी स्थितिमें चित्तका भी त्याग होना चाहिये। साधारण मुमुक्षुके लिये देहाभिमानका त्याग ही कठिन है। चित्तका त्याग तो नितान्त असम्भव है। विषय एवं चित्त घुल-मिलकर ऐसे एक हो गये हैं जैसे दूध और पानी इनको अलग-अलग करना किसी भी साधना एवं प्रयासके द्वारा नहीं हो सकता। तब इस चित्तसे पिण्ड कैसे छूटे ? इसमें दीखते हैं विषय, इसमें सोते हैं विषय, इसमें बदलते हैं विषय। वे चाहे शान्त हों चाहे उदित, वे चित्तसे निकालकर फेंके नहीं जा सकते।

तो आइये, फिर हम इस चित्तको ही वित्त-त्यागी संन्यासीके समान त्यागकर- हम चित्त-त्यागी, महात्यागी क्यों न हो जायें ! यही तो सर्वत्याग है। परन्तु, यह किसी क्रिया, उपासना या योगसे त्यागा नहीं जा सकता। फिर इसका त्याग कैसे हो ?

हाँ, तो क्या आप सचमुच इस चित्त-वित्तसे मुक्त होना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो मुमुक्षाकी प्राप्ति हो गयी। आप मुमुक्षु हो गये। आइये, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ निवृत्ति-परायण सद्गुरुके चरणोंकी शरण वरण कीजिये। अपने स्वरूपका बोध हुये बिना चित्तका त्याग नहीं हो सकता। असंगताकी भावना या स्थिति भी तात्कालिक होती है। अत: अपने स्वरूपको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें जानना आवश्यक होता है और वह सद्गुरुके बिना नहीं हो सकता है।

28-1-85

❑

: 20 :

गुरु क्यों ?

अच्छाजी, यह तो बताइये कि आपका कोई गुरु है कि नहीं ? क्या आप इतने विद्वान्, बुद्धिमान्, प्रतिभाशाली तथा अनुभवी हैं कि आपको गुरुकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ? यदि हाँ, तो आपसे बड़ा अभिमानी और कौन होगा ? क्या आप दुःखी नहीं हैं ? क्या आपको कभी कोई संशय नहीं होता ? क्या आप कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होते ? क्या आपको कभी दिशा निर्देशकी आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती ? भाई मेरे, यह अभिमान आपको कहीं-न-कहीं पटक देगा, आपको ले डूबेगा। आप अत्यन्त भार-ग्रस्त होते जा रहे हैं।

अच्छा, यह तो बताइये कि इस संसारमें क्या आपका कोई सच्चा हितैषी नहीं है जिस पर विश्वास करके आप जीवन-नौका ठीक दिशामें ले चलें। आप अपनी माताकी बातपर विश्वास करते हैं कि यह तुम्हारे पिता हैं, नाईपर विश्वास करते है, रसोइया, डॉक्टरपर विश्वास करते हैं, परन्तु आप अपने सच्चे हितैषीपर विश्वास नहीं करते। यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है ? आप तो सर्वथा अपनेको असहाय बना रहे हैं, असहाय हैं-विशेष करके तब जब आप बुद्धिके पीछे रह कर उसके संचालन करने वालेके सम्बन्धमें कुछ जानना चाहते हैं। नेत्रा रूपको देखते हैं, परन्तु रूप नेत्राको नहीं देख पाता। आप बुद्धिको देखते हैं परन्तु बुद्धि आपको नहीं देख पाती।

तब केवल बौद्धिक अभिमानके द्वारा आप आत्म-सत्यका साक्षात्कार नहीं कर सकते। आइये, वाद-विवादसे ऊपर उठ जाइये। मतिको सोने-जागने दीजिये। आने-जाने दीजिये। मतिसे परे, मतिका साक्षी, मतिका अधिशन, मतिका प्रकाशक, मतिसे रहित जो अद्वितीय तत्त्व है, उसके स्वरूपको सद्गुरुके द्वारा श्रवण कीजिये। श्रवणके अतिरिक्त आत्मतत्त्वके निश्चयका और कोई मार्ग नहीं है।

30-1-85

❑

: 21 :

अगली सीढ़ी पर चढ़िये, पिछली सीढ़ी छोड़िये !

आप संसारके व्यवहारमें कहाँ तक आगे बढ़ गये हैं ? क्या-क्या सत्य मानने लगे हैं ? नेक अन्तर्दृष्टिसे देखिये तो ! बाल्यावस्थामें बालकोंके साथ खेलते समय घर-घरौंदे बनाते थे, मिट्टी, मोम, आटाके पुतले बनाते थे, कोई बालक तोड़ देता तो उससे लड़ पड़ते थे- तुमने मेरी रचना क्यों बिगाड़ दी ? है न !

इसी प्रकार अनेक मन-गढ़न्त बातें मनमें बैठ जाती हैं और उनको निकालनेके लिये युक्ति करनी पड़ती है। मन में बैठ गया- घरमें भूत-प्रेतका निवास है। डर रहे हैं, ताबीज बाँध दी, डर मिट गया। न भूत था, न तो भागा। भ्रान्ति थी, भाग गयी। भूत-प्रेत अध्यारोप था, ताबीज अपवाद। कल्पित संख्याओंके द्वारा यथार्थ गणित निकल आता है।

यही है शैली श्रवणकी। आप एकबार फिर इसे अच्छी तरहसे समझ लीजिये। गोबरकी गौरी और सुपारीके गणेश। आवाहन किया, स्थापना की, पूजा की, विसर्जन कर दिया। आवाहन अध्यारोप है, विसर्जन अपवाद है। माँ-बापसे प्रेम है, ममता है- अध्यास है ! विवाह हो गया। पति-पत्नीका प्रेम हो गया। बाधा डालने वाले माँ-बाप छूट गये। अपवाद हो गया। वर-कन्याका विवाह हुआ। पति-पत्नीका अध्यारोप हो गया। तलाक हुआ। पति-पत्नीका अपवाद हो गया। संसारी वस्तुओंसे प्रेम है- अध्यारोप हो गया। भगवान्‌से प्रेम हो गया तो, पहले प्रेमका अपवाद हो गया। अपास्यका अपवाद, उपास्यका अध्यारोप। समाधिका अभ्यास किया, संसारसे वैराग्य हुआ। अभ्यास अध्यारोप है, वैराग्य अपवाद है। संप्रज्ञात समाधिका अपवाद हुआ, असंप्रज्ञात

समाधिका अध्यारोप हुआ। इसी प्रकार क्रमशः अन्नमय कोष, प्राणमय कोष इनका अध्यारोप-अपवाद होता है।

एकको पकड़कर दूसरेको छोड़ा जाता है। इसी प्रकार देह-भावसे छुड़ानेके लिये जीव-भावका अध्यारोप होता है। जीव-भाव आनेसे देहाभिमान और तत्-सम्बन्धी ममतास्पदोंका अपवाद हो जाता है। साक्षीभावके अध्यारोपसे कर्ता, जीवका भी अपवाद हो जाता है। परन्तु सबका अपवाद हो जाने पर जो जीवका स्वरूप शेष रह जाता है, वह क्या ? वह बुद्धिका विषय नहीं है। वहाँ, धर्म, उपासना, योगकी गति नहीं है ? वहाँ वाणी, मन आदिकी पहुँच नहीं है। तब वह क्या है ? धर्माधर्मसे परे, कार्य-कारणसे परे, भूत-भविष्यसे परे- क्योंकि यह सब तो बुद्धिके विषय हैं- वह आत्म तत्त्व क्या है- इसको आप श्रुति-स्मृति, पुराण-प्रोक्त सद्गुरुके वचनके बिना कैसे अनुभव कर सकते हैं ? तो, फिर आइये, श्रवण कीजिये।

31-1-85

❑

श्रवणका चमत्कार !

सभी इन्द्रियोंका अपना-अपना विषय अलग-अलग होता है- जैसे कानका शब्द, त्वचाका स्पर्श, नेत्रका रूप, रसनाका रस और नासिकाका गन्ध। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियके विषयको ग्रहण नहीं करती है। सब अपने-अपने विषयके ज्ञानमें शूरवीर हैं, फिर भी अपने विषयको पूर्णरूपसे ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। जैसे दूरका शब्द या रूप, जैसे सूक्ष्मतम शब्द या रूप, जैसे दूसरे समयका शब्द या रूप-अर्थात् इन्द्रियोंकी शक्ति सीमित है। यहाँ तक कि वे अपनेको भी ग्रहण नहीं कर पाती हैं। नेत्र-नेत्रको नहीं देख सकते। ऐसी स्थितिमें इनके द्वारा नाम-रूपके प्राकट्यसे पूर्व जो तत्त्व है, उसका ग्रहण यानि ज्ञान कैसे हो सकता है ? इन्द्रिय अपने-अपने स्वरूपमें चक्कर काटती रहती है। तेजस्-तत्त्वका अध्यात्म नेत्र, अधिदैव सूर्य, अधिभूत रूप। तेज ही तेजसे तेजको देखता है। कोई भी इन्द्रिय अपने प्रकाशकको, अधिष्ठानको, अनन्त-तत्त्वको देखनेकी शक्ति नहीं रखती। फिर इनसे क्या आशा रखी जाये ? क्या ये तत्त्वका साक्षात्कार करा देंगी ? छोड़िये भी !

अच्छा, तो मनसे चिन्तन करें। इन्हीं इन्द्रियोंने अपने-अपने ज्ञानके संस्कार मनमें भर दिये हैं। संस्कार वासनाके बिना मन किसी शुद्धि-वस्तुका चिन्तन नहीं कर सकता। देखे-सुनेका संस्कार मनको रंग देता है। जैसा शीशा आँख पर लग जाता है, सूर्यकी रोशनी उसी रंगकी दीखती है। वस्तुत: सूर्यकी रोशनी में कोई रंग नहीं होता। ऐसे ही जब हम सत्यका चिन्तन करने लगते हैं, तो मनमें जैसा संस्कार है, उसके अनुसार अनुभव होने लगता है। साकार है, निराकार है, दूसरे लोकमें है, सृष्टिके आदि-अन्तमें है-ये सब संस्कारोंके खेल हैं। चित्तकी एकाग्रतासे थोड़ी देरके लिये आकार तो हट सकते हैं, परन्तु संस्कार नहीं मिट सकते। इसलिये शुद्ध मनसे ही शुद्ध तत्त्वका चिन्तन हो सकता है। क्या आप अपने मनको शुद्ध करनेका प्रयास कर रहे हैं ?

रही बात बुद्धिकी। सबकी बुद्धि अलग-अलग होती है। दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता, गर्भ, खान-पान, संग-साथ- सबका प्रभाव

बुद्धिमें रहता है। बुद्धि सामने देख सकती है, पराक; बाहरको देख सकती है, प्रत्यक्को नहीं। अर्थात् अपने प्रेरक, प्रकाशक, अधिष्ठानके सम्बन्धमें केवल कल्पना कर सकती है। पहले इन कल्पनाओंका त्याग करना पड़ता है। कल्पित सत्य वास्तविक सत्य नहीं होता। अकल्पित सत्य ही वास्तविक सत्य होता है। कल्पना-जल्पनाके जालसे छूटना बहुत कठिन है। इसके लिये अपनी पूर्णता एवं अद्वितीयताके अनुभवी सद्गुरु चाहिये। परमार्थमें अद्वितीयता और व्यवहारमें पूर्णता। पूर्णतामें ही समता होती है। उसमें अच्छाई-बुराई, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, अहं-ममका भेदभाव नहीं होता। बिना ऐसा अनुभव हुये समता नहीं आ सकती। समता आये बिना दुःख मिट नहीं सकता। जो अकल्पित, अमत, स्वयं-प्रकाश तत्त्व है, वही अपने आत्माका वास्तविक रूप है-यह अनुभव ही परमार्थका अनुभव है। यह बात इन्द्रियोंसे, मनसे या बुद्धिसे अनुभव नहीं की जा सकती। इसके लिये एकमात्र उपाय है-श्रवण।

घोर अन्धकारमें जहाँ नेत्र काम नहीं करते, जहाँ मनसे अनुमान नहीं हो पाता, वहाँ वाग्-ज्योति अर्थात् शब्दका प्रकाश काम करता है। देवदत्त, यज्ञदत्त ! मैं तुमको नहीं पहचानता हूँ। मैं मनसे अनुमान भी नहीं कर पाता हूँ कि तुम कौन हो ? उसने बोलकर बताया-मैं अमुक हूँ। अन्धकारमें भी पहचान गये। इस अज्ञानान्धकारमें भटकते हुये जीवके लिये श्रवण ही एकमात्र सहारा है। आइये, श्रवण कीजिये !

1-2-85

❑

: 23 :

ज्ञानका अद्भुत स्वरूप !

जो वस्तु जैसी है उसको ठीक-ठीक वैसी ही जाननेका नाम ज्ञान है। अन्य वस्तुको जानना हो तो उसके लिये श्रोत्र, त्वचा, नेत्र आदि करणोंका उपयोग करना पड़ता है। आप देखेंगे कि विषय अनेक होते हैं, परन्तु उन्हें देखनेके लिये प्रकाश एक होता है। अब तक आपने कितने रूप देखे हैं ? नेत्रेन्द्रिय वही-का-वही है। विषय अनित्य होते हैं, ज्ञान नित्य होता है। घट, पट आदि विषयके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता है।

जिस आँखसे मैंने कल नीली-पीली साड़ी देखी थी, उसीसे आज लाल, सफेद साड़ी देख रहा हूँ। साड़ी अलग-अलग हुई, नेत्र एक हुये। जिस ज्ञानसे कानके द्वारा मैंने शब्द सुने थे, उसी ज्ञानसे नेत्रके द्वारा रूप देख रहा हूँ। नेत्र भी किसीके तेज होते हैं, किसीके सामान्य होते हैं, किसीके मन्द होते हैं। सभी इन्द्रियोंकी यही दशा है। विषयके भेदसे ज्ञानमें भेद जान पड़ता है, परन्तु ज्ञान रहता है एक ही।

अच्छा, तो आइये। दूसरी वस्तुको जाननेमें और अपनेको जाननेमें क्या अन्तर पड़ता है ? दूसरेको जानेंगे- वह अच्छा होगा, भला होगा, उपयोगी होगा तो उससे मिलनेका, उसे पानेका मन होगा, बुरा होगा तो छोड़नेका मन होगा। इसका अभिप्राय यह है कि दूसरी वस्तुका ज्ञान पाने या छोड़नेके लिये होता है, परन्तु अपना ज्ञान पाने या छोड़नेके लिये नहीं होता। आत्मा नित्य प्राप्त है, इसको पाना नहीं है। आत्मा छोड़ा नहीं जा सकता। तब, आत्म-ज्ञान केवल यथार्थको प्रकाशित करता है। यथार्थको प्रकाशित करना माने आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें जो भ्रम है-उसको मिटाना।

जो वस्तु ज्ञान होकर भूतमें रह गयी है, उसकी स्मृति होती है। जो भविष्यमें ज्ञानका विषय होने वाली है, उसकी कल्पना होती है। अपना आत्मा न भूत हुआ, न भविष्य होगा। वह इसी समय, यहीं अधिशन चेतनके रूपमें प्रकाश रहा है। उसमें स्मृति और कल्पना नहीं जुड़ती है। इसका अर्थ यह है कि एक ज्ञान संस्कारके रूपमें रहकर स्मृतिका हेतु बनता है और एक ज्ञान कल्पनामें रहकर प्रेरक बनता है, परन्तु अपने स्वरूपका ज्ञान न स्मृतिका विषय है, न कल्पनाका। वह ज्यों-का-त्यों है। वहाँ 'है' और 'ज्ञान' अलग-अलग नहीं है।

यह बात इतनी सीधी-सादी है कि ध्यान देने पर साधरण मनुष्य भी समझ सकता है। वह यह है कि ज्ञान किसीके बनाये बनता नहीं है। यदि किसी जीवने या ईश्वरने ज्ञानका निर्माण किया तो उस निर्माणके पहले क्या ज्ञान नहीं था ? ज्ञानका निर्माण भी तो ज्ञानसे होगा। ज्ञानसे ही ईश्वर ज्ञात होगा। ज्ञानसे ही जीव ज्ञात होगा। ज्ञानसे ही जगत् ज्ञात होगा। बिना ज्ञानके कुछ सिद्ध ही नहीं हो सकता। भगवान्का दर्शन होगा तो उसका ज्ञान होगा। भगवान्की पहचान पहलेसे ही होगी। इसलिये 'ज्ञान' जीव, ईश्वर, प्रकृति, भूत, चित्त, शून्य किसीका भी बनाया हुआ नहीं है। ज्ञान स्वयं है और इसीसे सब कुछ प्रतीत होता है। आप यह चिन्तन करें कि इस ज्ञानसे क्या आप अलग रह सकते हैं या यह ज्ञान क्या आपसे अलग रह सकता है ?

अच्छा, तो आइये अब श्रवण कीजिये ! यह तो आपको ज्ञात ही है कि अपने माँ बापको भी आप बतानेसे और विश्वाससे पहचानते हैं, इसलिये ज्ञानके स्वरूपपर भी आपको किंचित् विश्वासकी और बतानेकी आवश्यकता पड़ेगी। हाँ, तो आप जो भी श्रवण कीजिये, उसके पहले अनुकूल चिन्तन कीजिये। अनुकूल चिन्तन श्रद्धासे ही होता है।

इस ज्ञानसे मुझे क्या मिलेगा-यह आप देख नहीं सकते, जान नहीं सकते ! हाँ, इतना आवश्य जान सकते हैं कि इस ज्ञानसे मेरी बुद्धिका कौन-सा दोष दूर होता है, कौन-सा भ्रम मिटता है। यदि आपका ज्ञान आपके जीवनका कोई-सा दोष मिटाता है तो वह आपके लिये उपयोगी है। जैसे यज्ञोपवीत संस्कारसे अभक्ष्य भोजन निवृत्त होता है, विवाहसे पर-स्त्री, पर-पुरुष संग

निवृत्त होता है, वैसे ही बुद्धिमें ज्यों-ज्यों सत्यके ज्ञानकी निकटता आती है, त्यों-त्यों भ्रम दूर होता है। आप देखेंगे कि आपके श्रवणके साथ सुखका समावेश हो गया है।

मिलनेका सुख मत लीजिये, भ्रमके मिटनेका सुख लीजिये। वही ज्ञान सत्य तक पहुँच सकता है, जो आपके जीवनकी गलतियों और भ्रान्तियोंको मिटानेमें समर्थ हो। आपकी एक-एक जानकारी एक-एक परदा फाड़ती जायेगी और आप उस महान् प्रकाशके निकट होते जायेंगे, जो आपका अपना स्वरूप ही है। बुद्धिके सम्बन्धसे ही वह अन्तर्यामी है। सम्बन्धके बिना तो अपना स्वयं ही है।

परन्तु, यह बात सद्‌गुरुसे श्रवण किये बिना समझमें नहीं आ सकती। कितने बन्धन हैं अपने जीवनमें ? अहंके बंधन हैं, मनके बन्धन हैं, पाप-पुण्यके बन्धन हैं, राग-द्वेषके बन्धन हैं, सुख-दुःखके बन्धन हैं, ज्ञान-अज्ञानके बन्धन हैं- यह सब बन्धन सद्‌गुरुसे श्रवण करनेपर ही टूटते हैं। आइये, श्रवण कीजिये !

5-2-85

: 24 :

निवृत्ति-एक आश्चर्य !

अपने मन एवं इन्द्रियोंके द्वारा दूर अथवा बाहरकी वस्तुओंका दर्शन, चिन्तन प्रवृत्ति है। बाहरसे लौटकर अपने समीप आनेका नाम निवृत्ति है। मान लो कि अनेक वस्तुयें दीख रही हैं- यह प्रवृत्ति है। सब ओरसे नेत्रको हटाकर एकमें स्थिर करना- निवृत्ति है। अब बाहरके उस एक विषयको भी छोड़कर नेत्रामें आ जाइये। बिना किसी रंग, रूप, विषयके नेत्रको देखिये। हो गयी न विषयसे निवृत्ति ? अब नेत्र-वृत्तिको छोड़कर मनोवृत्तिमें आ जाइये। मनोवृत्तिको छोड़कर बुद्धिवृत्तिमें आ जाइये। हाँ, तो बुद्धि-वृत्ति और मनोवृत्तिमें क्या अन्तर है ? बुद्धिवृत्तिमें ज्ञान है-यह अच्छा है, यह बुरा है। मनोवृत्तिमें इच्छायें हैं। अच्छा-बुरा समझते हैं, हित-अहित समझते हैं- यह बुद्धि है। किसी वस्तुको पाना या त्यागना चाहते हैं- यह मन है। मनसे ऊपर उठिये। ज्ञानमें जो बुराई-अच्छाईका भेद है, उससे भी ऊपर उठिये। ऊपर उठना अर्थात् और अन्दर और अन्दर। अपने और पास, अपने और पास। हुई न निवृत्ति ! निवृत्ति-पूर्ण होते ही आप अपने शान्त स्वरूपमें बैठ जायेंगे।

आपके पास कोई स्वर्णका आभूषण है ? उस आभूषणमें- जो ढालके या गढ़के रूप-रेखा बनायी हुई है, उसका अलगसे कोई भार नहीं है। भार नहीं है तो रूप-रेखा कोई वस्तु नहीं है। रह गयी स्वर्णकी एक सिल्ली। उसको चूर-चूर कर दिया या गला दिया, नाम-रूप बदल गया और सूक्ष्म किया तो नेत्रसे नहीं दिखेगा, खुर्दबीनसे दीखेगा। थोड़ा और सूक्ष्मतामें ले जाइये, वह निराकार हो जायेगा, केवल मानसिक कल्पनाका विषय। इस कल्पनाको भी छोड़ दीजिये। अब आप हैं- शुद्ध सत्, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध आनन्द। यहाँ हो गयी निवृत्तिकी पराकाष्ठा। यह सच्चिदानन्द क्या है, इसको जाननेके लिये श्रवणकी आवश्यकता होती है।

आप तृणको किस रूपमें देखते हैं ? नेत्र बताते हैं कि यह पीला है। त्वचा बताती है कि कड़ा-कड़ा है। नासिकासे उसके गन्ध एवं रसनासे उसके स्वादका ज्ञान होता है। उसको तोड़िये तो चुरमुर शब्द होगा, जो कानसे मालूम

पड़ेगा। आपने तृणको कहाँ देखा ? उसके गुण, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दको भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे जाना। तृणका वास्तविक स्वरूप अर्थात् उसका वस्तु रूप, परमार्थ रूप तो आपके अनुभवका विषय हुआ ही नहीं। हाँ, तो वह कैसा है ? एक कल्पना बना लीजिये। अब, आपकी जो सत्ता है और कल्पनामें तृणकी जो सत्ता है, उसमें क्या भेद है ? सत्ता-सत्तामें भेद नहीं होता, कल्पनामें ही भेद होता है।

आप एक मनुष्यको देख रहे हैं। जैसे चित्र लेते समय कैमरेमें छाया आ जाती है, वैसे नेत्रोंके द्वारा देखा हुआ मनुष्य छायाके रूपमें अन्तःकरणमें आ जाता है और वहीं आप उसको देखते हैं। माता-पिताका भाव भी अन्तःकरणमें होता है, उस छायामें जुड़ जाता है। अब आप सूक्ष्म दृष्टिसे देखिये कि उस अन्तःकरण में पीछे से झाँकनेवाला, उसको रोशन करनेवाला जो आत्म-चैतन्य है, उससे अलग क्या उस मनुष्यका चैतन्य है, जिसको आप अपने अन्तःकरणमें ही देख रहे हैं ? चेतन तो वही है जो देख रहा है, देखे जाने वालेमें चेतनकी कल्पना ही होती है। स्वप्नमें दीखनेवाले पाँच वर्षके पुत्र, तीस वर्षके पिता, साठ वर्षका पितामह-तीनोंकी उम्र एक ही है कि नहीं ? दीखना-मात्र ही उनकी उम्र है। क्या वे पूर्व जन्ममें कुछ और थे, अब कुछ और हैं ? क्या वे अपने कर्मानुसार पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग, वैकुण्ठमें जायेंगे ? वे जो आपसे अलग दीख रहे हैं, उनकी चेतना क्या आपकी चेतनासे अलग है ? दो व्यक्ति लड़ रहे हैं, दो व्यक्ति प्यार कर रहे हैं, कोई पैदा हो रहा है, कोई मर रहा है।

यह सब क्या झमेला है ? क्या वे अलग-अलग जीव हैं ? नहीं। वह आपका ही मन है। जो जीत गया सो भी, जो हार गया सो भी। दोनोंमें चैतन्य आपका ही है। मन आपका ही है। सत्ता आपकी ही है। स्थान, काल और व्यक्तियोंका भेद आपसे निराला कहाँ है ? है न अद्भुत ! यह अनूठा, यह अनोखा ज्ञान श्रवणके बिना क्या कभी कोई स्वयं सोच सकता है ? हाँ, तो आइये श्रवण कीजिये !

6-2-85

❑

: 25 :

ज्ञानात्मा नित्य-मुक्त

व्यवहारमें जितना भी ज्ञान होता है, वह एक त्रिपुटी बनाता है- जैसे नेत्रसे रूपका ज्ञान हुआ। ज्ञान-एक, ज्ञानका विषय-रूप-दो, और जानने वाला मैं-तीन। हो गयी त्रिपुटी। ऐसा प्रत्येक विषय-ज्ञानके साथ होता है। ज्ञानके पीछे ज्ञाता अहं, ज्ञेयके सामने विषय इदं। तो क्या प्रत्येक ज्ञानके पीछे रहने वाला अहं अर्थात् मैं क्या अलग-अलग सुननेवाला, छूनेवाला, देखनेवाला, चखनेवाला, सूँघनेवाला होता है ? नहीं-नहीं, वह तो सबमें एक ही होता है। इसी त्रिपुटी से अल्पज्ञ एवं सर्वज्ञका भेद बनता है। अल्पज्ञ जीव, सर्वज्ञ ईश्वर। अब मैं और यह, अर्थात् अहं और इदं-दोनोंको बट्टे खातेमें डाल दीजिये। ज्ञान शुद्ध हो गया। इस शुद्ध ज्ञानमें देश, काल, वस्तुका कोई भेद नहीं रहता। अहंका भेद भी मिट जाता है। केवल ज्ञान, केवल ज्ञान ! न विषय, न विषयी। यह ज्ञान ही आत्माका परमार्थ स्वरूप है। महावाक्य द्वारा यही बोध होता है। अर्थात् अपने ज्ञान-स्वरूपको अहं-इदंसे मुक्त जान लेने पर अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपका अज्ञान मिट जाता है, अद्वितीयपनेको घट-पटके समान विषय नहीं बनाया जाता बल्कि उसका अज्ञान दूर करना होता है। घटको देखना और मैं घटको जानता हूँ-यह दो वृत्ति हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें मैं ब्रह्मको जानता हूँ- यह वृत्ति उदय नहीं होती। क्योंकि वह स्वयं है। वह जाननेवाला और जाना जानेवाला, दो रूप नहीं हो सकता।

अच्छा, तो सच-सच बताइये, क्या कभी आपने सोचा है कि ज्ञानका ऐसा स्वरूप होता है-ज्ञान ही आत्मा है, ज्ञान ही ब्रह्म है अर्थात् आत्मा ब्रह्म है ?

है न, यह ज्ञानका अद्‌भुत चमत्कार ! आपने अपने मनसे जितने बन्धन गढ़ रखे हैं, सब छिन्न-भिन्न होकर ढह जायेंगे। आपकी परतन्त्रता मिट जायेगी। जीवन-मरणका भय भाग जायेगा। राग-द्वेष टिक नहीं सकेंगे। सुख-दुःखका द्वन्द्व आपका स्पर्श नहीं कर सकेगा। यह है ज्ञानका चमत्कार-जिसमें धर्म, उपासना, योग तक का कोई बन्धन नहीं है। ज्ञानको भी रखनेका तनाव नहीं है। यही है जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख। यह धर्मके समान कर्म विशेषमें आबद्ध नहीं है। यह उपासनाके समान निरन्तर पकड़े रहनेका नहीं है। यह योगके समान अन्तर्गुहामें निरुद्ध होना नहीं है। आप व्यवहारकी प्रत्येक दशामें ज्ञान हैं, ज्ञान हैं, ज्ञान हैं- अखण्डज्ञान हैं !

ऐसा ज्ञान केवल अनुभवी तत्त्वज्ञ से ही प्राप्त हो सकता है। श्रवण कीजिये !

7-2-85

❑

: 26 :

उत्साहसे आगे बढ़िये !

वासनायें प्रबल हैं। मन चंचल है। इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। प्रलोभन अगणित हैं। पाँव डगमगा जाते हैं। बाधा पिशाचीके समान सामने खड़ी हो जाती है। मनुष्यके मनमें एक प्रकारकी उदासी अथवा निराशा छा जाती है। उसको ऐसा लगने लगता है, जैसे मैं मार्गसे च्युत हो गया हूँ। बस, यहीं सावधान रहनेकी आवश्यकता है। जो मार्गमें चलता है उसीके पाँव फिसलते हैं। कभी-कभी गिर भी पड़ता है। यह कोई अनहोनी नहीं है। यह कोई अपराध भी नहीं है। गिरके न उठना अपराध है। आगे न बढ़ना अपराध है। इसलिये आप बाधाओंसे घबड़ाइये मत। उदास-निराश मत होइये। भविष्यकी सम्भावना अत्यन्त उज्ज्वल है, क्योंकि आपकी आत्म-शक्ति अनन्त-शक्तिके साथ जुड़ी हुई है। उसको कोई पराजित नहीं कर सकता। उत्साहके साथ आगे बढ़िये लक्ष्यकी प्राप्ति हुई, अब हुई-ऐसा निश्चय करके प्रतिपल, प्रतिपद लक्ष्यके सामीप्यका अनुभव कीजिये। जो आप चाहते हैं-वह कोई दूसरा नहीं है। आप ही हैं। आपके प्रयासका एक क्षण या कण भी व्यर्थ नहीं जाता। वह आपको पूर्णतासे मिलाता है।

हाँ, तो लक्ष्यके प्रति आप कितने सच्चे हैं, कितने सजग हैं ? आपकी आकांक्षा, आपकी लालसा, आपकी उत्कंठा, आपकी व्याकुलता कितनी गहराई तक, सूक्ष्मताके किस स्तर तक पहुँच चुकी है ? वह कौन-सा प्रतिबन्ध है जो आप और आपके लक्ष्यके बीचमें आवरण बना हुआ है। आप उन्मत्तके समान पूरी शक्तिसे एक छलांग भरिये। वह दूरी, वह देरी, वह दूसरापन जो आप और आपके लक्ष्यमें अन्तराल बना हुआ था, मिट जायेगा। वस्तुत: वह था ही नहीं। मनका ही अटकाव है। यह भ्रमका ही एक क्रम है। इसको दूर करनेमें किसी भी श्रम या क्लम; थकानकी आवश्यकता नहीं है। जब आप इसको दूर करना चाहेंगे, तब समग्र ईश्वरीय शक्ति आपकी शक्तिके अनुकूल हो जायेगी और यह अन्धकार ही एक महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट हो जायेगा। उठिये, जागिये ! तत्पर हो जाइये। सम्पूर्ण शक्तियाँ आपकी सहायताके लिये उत्सुक हैं, उन्मुख हैं।

9-2-85

❑

विचारके विपरीत आचरण क्यों ?

हमें यह ज्ञान तो है कि क्या करना चाहिये, क्या नहीं, परन्तु, जब सम्मुख कोई प्रलोभन या आकर्षण आ जाता है तब ज्ञानके विपरीत आचरण होने लगता है। इसका क्या कारण है ?

जबतक ज्ञान और सुख एक साथ रहते हैं तबतक अनुचित आचरण नहीं होता। जब सुख ज्ञानसे अलग हो जाता है और ज्ञान सुखके पीछे-पीछे चलने लगता है, तब अनुचित आचरण होता है। इसको यों समझिये- कि हम जानते तो हैं कि झूठ बोलना अनुचित है, पाप है, चोरी करना अनुचित है, पाप है, परन्तु झूठ बोलनेसे या चोरी करनेसे मुझे सुख मिलेगा यह कल्पना हो जाती है, तो मन सुखके पक्षमें हो जाता है और ज्ञानका साथ छोड़ देता है। ज्ञान स्वामी है। सुख उसका सेवक है। जहाँ ज्ञानके अनुसार आचरण होगा वहाँ सुख साथ-साथ चलेगा। परन्तु, जब सुखके पीछे-पीछे ज्ञान चलने लगता है, तब ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूपमें नहीं रहता, विपरीत हो जाता है, अर्थात् अज्ञान हो जाता है। यही कारण है कि हमारे मनमें सुखका पक्षपात भर गया है और ज्ञानके अनुसार जीवनमें रुचि नहीं रही है। इस रुचिको उत्पन्न करनेके लिये थोड़ा कष्ट सहकर भी अपने ज्ञानके अनुसार जीवन बनाना चाहिये। सुख क्षणिक होता है। ज्ञानके विपरीत होने पर तो वह दुःखदायी भी हो जाता है। अतः तपस्या, सहिष्णुता और निष्कामताके द्वारा अपने सुखको ज्ञानका अनुयायी बनाना चाहिये, तब पापके प्रलोभन और आकर्षण अपने अन्तःकरण पर प्रभाव नहीं जमायेंगे।

19-1-86

❑

: 28 :

भाव या विचार

जब हम किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, समय या भावको ईश्वरकी उपासनाकी दृष्टिसे देखते हैं तब उसमें विज्ञान अथवा विचार जोड़नेकी आवश्यकता नहीं रहती। वस्तु चाहे छोटी हो या बड़ी हो-शालग्रामकी बटिया हो, तुलसीका पौध हो, पीपलका वृक्ष हो, गाय हो, हंस हो, गुरु हो अथवा आकाश, वायु, अग्नि हो-उसमें अपनी ओर से भगवद्- बुद्धि करनी पड़ती है। भाव कर्ताकी ओरसे होता है और जिस वस्तुकी उपासना की जाती है, उसमें पूर्णत्वकी बुद्धि की जाती है, प्रयोगशालामें उसकी जाँच नहीं की जाती और विचारके द्वारा ऊहापोह करके उसकी पूर्णता जाँची नहीं जाती। वह चाहे कुछ भी हो, हमारी बुद्धि जब पूर्णताका भाव करेगी तो हमें पूर्णताका साक्षात्कार होगा। यदि उसमें किंचित् भी न्यूनताका भाव रहा तो पूर्णताका प्रकाश नहीं होगा।

विचार मार्ग दूसरा है। उसमें अपनी ओर से भाव करनेकी आवश्यकता नहीं होती। वस्तुका स्वरूप कैसा है? उसको साधन, युक्ति, स्थिति और अनुभवके द्वारा निरावरण करना पड़ता है। भाव कर्ताके अधीन है और विचार वस्तु-स्वरूपके अधीन। संसारकी वस्तुओंको देख-देखकर परमात्मा, परमार्थ सत्यके बारेमें तरह-तरहके अध्यारोप होते हैं, कल्पनायें की जाती हैं। यहाँ तक कि कालकी वासनासे ही हम परमात्माकी नित्यता मानते हैं, देशकी वासनासे व्यापक मानते हैं और वस्तुकी वासनासे उपादान। जब इन वासनाओंसे मुक्त होते हैं तब अपने स्वरूपके अतिरिक्त कुछ नहीं रहता, जिस आत्मासे सबका भान होता है उसीमें सबका अभाव भी होता है। अतः सावधान रहकर भाव और विचारकी खिचड़ी बनानेसे बचना चाहिये। भाव करो तो पूर्ण-रसमें, विचार करो तो अत्यन्त निष्ठुर!

20-1-86

❑

ज्ञानका अनादर मत कीजिये !

आप अपने ज्ञानका अनादर तो नहीं करते ? यदि आपका ज्ञान कुछ कहेगा और आप उसकी उपेक्षा करके दूसरा कुछ कहेंगे-करेंगे तो, आप स्वयं अपने ज्ञानका अपमान करेंगे। अपमानित ज्ञान संकुचित हो जाता है। ज्ञानके संकुचित होने पर नयी-नयी स्फुरणा, नये-नये विचार नहीं उठते, प्रतिभाका प्रकाश मन्द हो जाता है। आप अपने ज्ञानका आदर कीजिये। अपनी दृष्टिसे ही जो अनुचित हो वह मत कीजिये।

आपका ज्ञान दूसरोंको समझानेके लिये है कि स्वयं समझनेके लिये है ? यदि दूसरोंको समझानेके लिये है तो दूसरेको अज्ञानी मानना पड़ेगा, साथ ही अपनेको ज्ञानी। दूसरेके प्रति हीन भाव और अपने प्रति उच्च होनेका भाव, अर्थात् अभिमान आनेकी सम्भावना बनी रहेगी। इसलिये, ज्ञानका उपयोग स्वयं अपने आपको ही ठीक-ठीक समझनेमें करना चाहिये।

संसारमें प्रायः सभी वस्तुयें और उनकी श्रेष्ठता-कनिष्ठता, देश, काल, अधिकारी, अवस्था, शक्ति, परम्परा आदिके अनुसार मानी हुई हैं। वे अलग-अलग होती हैं, बदलती जाती हैं और स्थानान्तरित भी होती हैं। इसलिये, उनके आधार पर किसीको श्रेष्ठ-कनिष्ठ माननेका कोई कारण नहीं है। अपने साथ जो मान्यतायें जुड़ी हैं उनमें भी अधिकांश अविचार अथवा रूढ़िके कारण ही हैं। ज्यों-ज्यों उनकी पोल-पट्टी खुलती जाये या बखिया उघड़ती जाये, त्यों-त्यों उनके प्रति आस्था शिथिल कर देना चाहिये। भले वे जीवनमें रहें, परन्तु बुद्धिमें उनके प्रति महत्त्वकी धारणा नहीं रहनी चाहिये।

हमारे अहंके साथ जो मलिनता जुड़ गयी है, उसका त्याग कर देना चाहिये और जो अच्छाइयाँ जुड़ गयी हैं, उनके परिवर्तन, नर्त्तन और वर्तनको समझना चाहिये। जैसे वस्त्र, आभूषणके फैशन भी बदलते हैं, वैसे ही अच्छाइयोंके, व्यवहारके फैशन भी बदलते हैं। अपने साथ कुछ भी नहीं रहता। सुषुप्ति-कालमें सब कुछ छूट जाता है अथवा विस्मृतिके गर्भमें लीन हो जाता है। यदि हम चाहें तो जाग्रत् दशामें भी अपने उदात्त एवं स्वस्थ ज्ञानके द्वारा सबका त्याग कर सकते हैं। अपने ज्ञानका आदर कीजिये। अज्ञानसे मानी हुई सारी रूढ़ियाँ अपने आप ही खिसक जायेंगी! सरक कर गिर जायेंगी। ज्ञानका आदर ही परमार्थ सत्यके साक्षात्कारका मार्ग है। 21-1-86

❑

: 30 :

सुख-दुःख दृष्टि-मात्र है

एक था कुम्हार। पत्नी, पुत्र परिवार संयुक्त। प्रतिदिन घड़े-सकोरे बनाता, पकाता, बेचता। गृहस्थी भली-भाँति चल रही थी ! अब उसको एक स्वप्न आने लगा। निद्रा आते ही वह सम्राट् हो जाता। राज्य, महल, रानी, राजकुमार, सेनापति, सम्पदा, अनुकूल प्रजा-उसके पास सब कुछ हो जाता, बहुत सुखी रहता। नींद टूटने पर फिर कुम्हार-का-कुम्हार। लगातार बहुत दिनों तक एक ही स्वप्न आने पर उसके मनमें स्वाप्निक पदार्थोंसे आसक्ति हो गयी। अब, उसका दिन भर काममें मन नहीं लगता। यही चाहता रहता कि कब रात हो, नींद आये और मैं सम्राट् हो जाऊँ। स्वप्नका स्वभाव है कि वह जितनी देर मालूम पड़ता है उतनी ही देर रहता है। प्रत्युत् उसका देर-सबेर भी स्वप्नका ही होता है। वहाँ दीखना और वस्तुका भेद नहीं होता। दीखना ही वस्तु है और वस्तु ही दीखना है। दृष्टि ही सृष्टि है।

आप अपने वर्तमान जीवनकी ओर दृष्टि डालिये। सुख-दुःख क्या है ? उसका स्थान, समय गुरुत्व-लघुत्व क्या और कितना है ? वह आया है कि गया है, बनता है कि बिगड़ता है, दर्पण में दीखनेवाली छाया है। मालूम पड़ना ही सुख-दुःखका अस्तित्व है। अज्ञात-रूपसे सुख-दुःख नहीं होते। तब उनकी सत्ता क्या है ? केवल प्रतीति, केवल प्रतीति ! यह एक भ्रान्ति है कि सुख-दुःख सत्य हैं, कहींसे आये हैं, रहेंगे या जायेंगे। सिनेमाके पर्दे पर जो कुछ दीख रहा है-छाया है। अन्तःकरणके पर्दे पर जो कुछ दीख रहा है-वह माया है। वह-न देखनेवालेमें है, न पर्देपर है। उसको सत्य मत बनाइये। देखिये और देखिये ! सुख-दुःखकी छाया-छाया ही है, वह सत्य नहीं है। उसको बोझ मत बनाइये ! वह बिना भित्तिका चित्र है, बादलोंमें चलने वाली देवताओंकी बरात है। उसको सत्त्व मत दीजिये। अपनेको उसके साथ मिलाइये मत ! देखिये, बस देखिये !

22-1-86

❑

: 31 :

सुख-दुःखका रहस्य

एक था बादशाह । पत्नी, पुत्र, महल, सम्पदा, प्रसन्न-प्रजा-सब प्रकारसे भरपूर। परन्तु प्रतिदिन कोई-न-कोई खिट-पिट लगी रहती थी- बेगम रूठी हैं, बेटा किसी पर अत्याचार कर रहा है, सेनामें गड़बड़ी है, शत्रुका भय है, कहीं कोई रोग न हो जाये-एक-पर-एक अगणित। कभी चैनकी नींद नहीं आती। प्रवाहमें संसारका अन्त नहीं है।

एक दिन वह महलकी छत पर घूम रहा था। उसकी दृष्टि पड़ी- किलेके नीचे चहारदीवारीके पास, एक झोपड़ी पर। उसमें कोई गरीब रह रहा था। पति, पत्नी, पुत्र, मिट्टीके बर्तन, खाने-पीनेकी कुछ सामग्री। कहकहे लग रहे थे, हँसी-खुशीसे खा-पीकर सब-के-सब आरामसे सो गये। एक दिन, दो दिन, तीन दिन- बादशाह देखता रहा। आश्चर्य होता-इनके पास कुछ नहीं है, फिर ये इतने सुखी कैसे रहते हैं ?

समय मिलने पर अपने मन्त्रीसे उसने इसकी चर्चा की-ये दरिद्र इतने सुखी कैसे रहते हैं ? मंत्रीने कहा-'अच्छा जहाँपनाह, मुझे आप निन्यानवे रुपये दे दीजिये। उसने एक पोटली बनायी, छतपरसे नीचे गरीबके घरमें डाल दी ! दूसरे दिन गरीबके परिवारने वह पोटली देखी, उठायी, खोली। अवांछित रूपसे इतने रुपये प्राप्त हो गये। उसके घरमें तो कुछ भी नहीं था-एक छदाम

भी नहीं था। अब सबने मिलकर यह सलाह की कि एक-एक पैसा रोज बचाकर निन्यानबेको सौ कर दिया जाये। जिस दिन नहीं बचा पाते उस दिन परस्पर एक दूसरेके साथ कलह आरम्भ हुआ। एक दूसरेपर आरोप लगाता-तुमने अधिक खर्च कर दिया-आज बचा क्यों नहीं ? धीरे-धीरे मन-मुटाव हो गया। एक दूसरेसे बोले नहीं, हँसे नहीं, लड़ें-झगड़ें-दुःख आ गया।

मन्त्रीने बादशाहसे निवेदन किया-'सरकार, इसका नाम है-निन्यानवेका चक्कर। जिसके मनमें वासना होगी-और, औरकी-वह कभी सुख-शान्तिसे रह नहीं सकता, चैनकी नींद सो नहीं सकता। यही सुख-दुःखका रहस्य है !'

जिसके मनमें जितनी वासना, उतना ही दुःख। वासनाकी न्यूनता उतना ही अधिक सुख। सावधान ! आप वासना बढ़ा रहे हैं कि घटा रहे हैं ?

23-1-86

❑

आसक्ति या भ्रम !

इन्द्रियोंके द्वारा बाहरके पदार्थोंका ज्ञान होता है, जैसे-गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द। जिस इन्द्रियके द्वारा जिस विषयका ज्ञान होता है, वही उसको होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं होता। जैसे-नेत्र गन्ध, रस आदिके बारेमें कुछ नहीं जान सकता। अर्थात् दूसरे विषयोंके सम्बन्धमें वह अज्ञानी है। अब रही अपने विषयकी बात। उसको भी पूरी तरहसे नहीं जानता। दूर, निकटमें भेद होता है और रूप बदलने पर भी भेद होता है। नेत्रका कोण या शक्ति बदलने पर भी भेद होता है। दूरबीन, खुर्दबीन लगाने पर भी अन्तर पड़ जाता है। चश्मेके नम्बर भी अलग-अलग होते हैं। यह कहना कि मेरे नेत्र-प्रमाणके द्वारा ज्ञात किसी विषयमें हमारी सर्वदाके लिये पूर्ण रूपसे आसक्ति हो गयी है- यह बात कभी सही नहीं हो सकती। अब तक नेत्रने कितने पुष्प, फल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य देखे हैं- उनमें-से वह कहाँ अटका ? इन्द्रियाँ एकके बाद दूसरा देखती जाती हैं, भूलती जाती हैं, नया-नया चाहती हैं। है कहीं इन्द्रियोंकी आसक्ति ? अपने रूपमें या दूसरेके रूपमें ? सर्वथा भ्रम है।

सम्बन्धको लीजिये। क्या आपके जीवनमें आपका कोई ऐसा सम्बन्धी है- व्यक्ति या मनुष्य-जिससे आप निष्कपट व्यवहार करते हैं ? कहीं-न-कहीं छिपाव-दुरावकी मात्रा होती ही है। माँसे पत्नीकी और पत्नीसे माँकी कितनी ही बातें छिपानी पड़ती हैं। हम अपनी पूरी-की-पूरी बात किसीको नहीं बता पाते। आसक्तिमें अनुसन्धान करने पर कहीं-न-कहीं कपटकी कुछ मात्रा मिलेगी। तब आसक्ति सच्ची कहाँसे हुई ?

क्या आपका मन बाल्यकालसे अबतक कहीं, किसी एक वस्तु, व्यक्ति या स्थानमें आसक्त होकर स्थिर हो सका है ? अजी, पहले जिनसे बहुत आसक्ति जान पड़ती थी, अब उनकी याद भी नहीं आती। मन ज्ञान है, इन्द्रियाँ भी ज्ञान ही हैं। अतः वे अपने विषयोंको देखते तो जाते हैं, परन्तु, कहीं भी इस प्रकार नहीं फँसते कि वहीं-के-वहीं रह जायें। ज्ञान होता ही वह है जो विषयोंमें परिवर्तन होने पर भी स्वयं अपने एकरूपमें स्थिर रहता है। सपने बदलते हैं, मैं नहीं बदलता। आपका मन सचमुच कहीं भी आसक्त नहीं हुआ है, केवल भ्रम ही हुआ है कि इसमें मनकी आसक्ति है।

अच्छा, बुद्धिको लीजिये। आकाशमें जितने तारे हैं, वायुमें जितने झोंके हैं, आगमें जितनी चिंगारियाँ हैं, जलमें जितने सीकर हैं और पृथिवीमें जितने कण हैं, उतने ही विचार बुद्धिमें रहते हैं। आकाशमें शब्दके समान ही बुद्धिमें विचार बिखरे रहते हैं। कभी कोई आया, कुछ समय तक अच्छा लगा, फिर बदल गया। बुद्धि भी ज्ञान है। वह किसी विचारमें अटकती नहीं है, चिपकती नहीं है, आसक्त होती नहीं है। आसक्ति एक भ्रम है, जो मालूम तो पड़ती है, परन्तु उसमें असलियत नहीं है।

यदि ज्ञानमें आसक्ति रहे तो वह कभी असंग नहीं हो सकता। राग-द्वेष बने रहेंगे। वासनायें अपनेको कंगाल दिखाती रहेंगी। पराधीनता बनी रहेगी। ज्ञानके सच्चे स्वरूपमें, न इन्द्रियमें, न मनमें, न बुद्धिमें और न तो आत्मामें ही कभी, कहीं, किसीसे आसक्ति होती है। आसक्ति एक भ्रम है।

इस भ्रमके दो रूप हैं। एक मैं किसी पर आसक्त हूँ-यह तो भ्रमका छिछला रूप है, परन्तु, दूसरा-कोई मुझपर आसक्त है-यह भ्रमका बहुत गहरा रूप है। यह पहलेसे अधिक दु:खदायी है। हम किसीके लिये मर जायें यह तो हमारी मौज है, परन्तु, दूसरा कोई मुझपर मर रहा है-ऐसा सोचना तो अपनेको पशु बना देना है। बस अब तुम उसके कठपुतली हुये। वह नचावेगा, तुम नाचोगे।

अत:, आसक्ति भ्रमके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विचारवान्‌को सदा इससे सावधान रहना चाहिये!

29-1-86

❑

विश्लेषण

स्मृति बासी हो जाती है। अर्थात् पहले अनुभव की हुई वस्तुकी बादमें स्मृति होती है। एक ही अन्त:करणमें, एक ही समयमें एक ही वस्तुका अनुभव और स्मृति नहीं होती। भूतकालका अनुभव चाहे यथार्थ हो, चाहे अयथार्थ, उसकी पूरी या अधूरी स्मृति होती है।

प्रमाण पहलेसे अज्ञात वस्तुका ज्ञापक होता है। यह अपने विषयका ज्ञान करानेके पश्चात् निष्प्रयोजन हो जाता है। किसी भी वस्तुको बार-बार प्रमाणका विषय बनानेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रमाण भविष्यमें मर जाता है।

भावना अपनी ओरसे की जाती है। दीखेगी मूर्ति, मानेंगे देवता। वह अपनी ओरसे अपने ही ऊपर या किसी दूसरेके ऊपर आरोपित की जा सकती है, उसका यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। संग, रुचि, दूसरोंका प्रभाव भावनामें काम करता है। वह की जा सकती है, छोड़ी जा सकती है, बदली जा सकती है, विपरीत संग मिलने पर मूर्खताका एक रूप भी मानी जा सकती है।

श्रवण जैसा परोक्ष या अपरोक्ष वस्तुके सम्बन्धमें होगा, वैसा ही परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करेगा। आत्माके स्वरूपके श्रवणसे आत्माका अपरोक्ष ज्ञान होगा। परोक्ष ईश्वरके श्रवणसे उसका परोक्ष ज्ञान होगा। शब्दमें अचिन्त्य-शक्ति है! वह जिस विषयमें होगा, उसके आवरणको भंग कर देगा। इसीसे भक्ति और वेदान्त दोनों ही श्रवणसे फलप्रद होते हैं। भक्तिका प्रथम साधन भी श्रवण है, ज्ञानमें सर्वश्रेष्ठ प्रमाण श्रवण है।

मननमें संशय निवृत्त करनेकी शक्ति है और उसमें नवीन-नवीन युक्तियोंका उत्थान भी होता है। प्रमाणमें और उसके विषय प्रमेयके सम्बन्धमें जितने भी संदेह होते हैं उनको मनन निवृत्त करता है। तर्क-वितर्क श्रवणके प्रतिकूल जाते हैं और मनन श्रवणके अनुकूल रहता है। मननमें चंचलता बनी रहती है एकरूपता नहीं आती।

निदिध्यासन में विषयकी एकरूपता होने पर भी वृत्तियोंका प्रवाह बना रहता है। एक धारा होती है जो एक ही ओर बहती रहती है। उसमें गति है, वेग

है, कालका सम्बन्ध है, अन्तर्देश है और विपर्यय रूप प्रतिबन्धको निवृत्त कर रहा है। निवर्त्य-निवर्त्तक भाव है, अतएव, भेद बना ही रहता है।

ध्यान कर्ताके अधीन होता है। उसका विषय चाहे सच्चा हो, चाहे झूठा- इच्छा प्रयत्नसे सम्पन्न होकर वह अपना फल उत्पन्न करता है, जो ध्यानका अभ्यास छूट जानेपर नष्ट हो सकता है। वह कल्पनामें आये हुये विषयका होता है और उसका फल भी अविनाशी नहीं होता।

ज्ञान प्रमाणसे होता है। लौकिक ज्ञान नेत्र आदि लौकिक प्रमाणोंसे होता है। परन्तु अपने आत्माका ज्ञान लौकिक प्रमाणोंसे नहीं हो सकता। क्योंकि लौकिक प्रमाणोंका मुख बाहरकी ओर होता है। अत: स्व-विषयक ज्ञान अर्थात्, आत्माका ज्ञान वेदान्त प्रमाणसे होता है और वह आत्माको घट-पटादिके समान अपना ज्ञेय नहीं बनाता और न तो स्वर्गादिके समान साध्य। प्रत्युत् वह आत्माके अज्ञानका नाश कर देता है, वह विषयको उत्पन्न नहीं करता, स्वर्गादिकी रचना नहीं करता, जो वस्तु जैसी होती है। उसको उसी रूपमें निरावरण कर देता है।

ज्ञानका स्वरूप वस्तुके अधीन है और ध्यानका स्वरूप इच्छा-प्रयत्नवान् कर्ताके अधीन है, ध्यानमें विश्वासकी मुख्यता है, ज्ञान साक्षात्कार-स्वरूप है, ध्यानसे ध्येय वस्तु बनती है, परन्तु ज्ञानसे बनता-बनाता कुछ नहीं, केवल अविद्यावरण भंग होता है! ध्यानसे कुछ पैदा होता है, ज्ञानसे कुछ पैदा नहीं होता, नित्य ज्ञातका ही ज्ञान होता है, नित्य-निवृत्तकी ही निवृत्ति होती है और नित्य-प्राप्तकी ही प्राप्ति होती है।

वस्तुत: सिद्धान्त यह है कि अज्ञानसे जो वस्तु पैदा हुई है या रहेगी- इस प्रकार मालूम पड़ती है, वह मिथ्या होती है, पहलेसे होती ही नहीं और जो वस्तु ज्ञानसे मिलती है, वह पहलेसे मिली-मिलायी होती है, उसके लिये तो ऐसा समझना चाहिये- जैसे गोदमें बालक शहरमें ढिंढोरा, अथवा कण्ठमें हार और तिजोरीमें ढूँढ़ना। ज्ञानके हेतु, स्वरूप और फलकी यही विलक्षणता है, यह स्वयं स्वप्रकाश है, अजन्य है और अजन्यकी प्राप्तिका बोध कराने वाला है।

31-1-86

❑

आत्मा-परमात्मा !

1. आत्मा-परमात्मा अस्ति-नास्ति इन दोनों प्रत्ययोंका अधिशन, स्वयं-प्रकाश एवं प्रकाशक है, अस्ति-नास्ति हैं-नहीं, ये प्रत्यय हों या न हों-उस पर कोई प्रभाव नहीं है।

2. आत्मा-परमात्मा अविनाशी है, उसके अभावका अनुभव नहीं हो सकता। अनुभवके क्षेत्रमें अपने स्वरूपका अभाव है ही नहीं।

3. आत्मा-परमात्मा किसी देश, काल या वस्तुकी गोदमें नहीं है। देशका अधिशन व्यापक, कालका अधिष्ठान नित्य और वस्तुका अधिष्ठान परिमाण-रहित अद्वैत-तत्त्व है।

4. यह अणु, मध्यम या विभु परिमाण नहीं है। परिमाण माने माप-तौल। अणु माने छोटा, मध्यम माने शरीर-बराबर और विभु माने व्यापक। ये सब अपेक्षाकृत हैं। व्याप्य-व्यापक भाव भी सापेक्ष ही है। आत्मा-परमात्मा निरपेक्ष है।

5. आत्मा-परमात्मा निर्विकार है। क्योंकि वह जड़ नहीं है, दृश्य नहीं है, ज्ञान-स्वरूप है।

6. जो स्वप्रकाश, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है उसमें दुःख कहाँसे आवेगा ! वह परम प्रेमास्पद परमानन्द स्वरूप होनेके कारण निर्दुःख है।

7. आत्मा-परमात्मामें विषय-विषयी भाव-रूप द्वैत नहीं है।

8. आत्मा-परमात्माको कोई निर्गुण-सगुण कहे, कोई निराकार-साकार कहे, कोई देशवासी बतावे अथवा देशातीत कहे-वह किसीका विरोध नहीं करता।

9. अच्छाई-बुराई, जुँआ-मच्छर, हाथी-पहाड़ सबमें आत्मा एक-सा है, सरल है।

10. कोई कुछ कहे, कोई कुछ करे, कोई कुछ सोचे-परमात्मा किसीका परित्याग नहीं करता।

11. दूसरेकी चाह नहीं है।

❑

: 35 :

महात्मा

1. महात्माको कोई सन्त समझे या असन्त उसपर कोई प्रभाव नहीं है। अस्तिसे सन्त बनता है, नास्तिसे असन्त। ये दोनों अज्ञानियोंकी दृष्टि है, महात्मा ज्ञान-स्वरूप है।

2. महात्मामें अपने जन्म, जरा, मरणकी कल्पना है ही नहीं।

3. महात्मा किसी भी देश, काल या वस्तुमें आसक्त या आग्रही नहीं होता।

4. महात्मा में जीव-भाव नहीं होता। इसलिये, उसका अहं अणु, मध्यम-शरीर या विभु-व्यापकसे आबद्ध नहीं होता। उसकी दृष्टिमें ये तीनों औपाधिक हैं, कल्पना-मात्र हैं। औपाधिक अर्थात् अन्तःकरणसे तादात्म्यके कारण अपनेमें कल्पित हैं।

5. महात्मामें काम-क्रोधादि विकार नहीं है, क्योंकि वह परिच्छिन्न जड़ देह नहीं है, ज्ञान-स्वरूप चेतन निरावरण होनेके कारण उसमें विकार संभव ही नहीं है।

6. महात्मामें दुःखके-बाहरके निमित्त तो मिथ्या हैं ही, दुःखाकार वृत्ति भी मिथ्या ही है। मिथ्या वस्तुसे तादात्म्य करके- मैं दुःखी हूँ। यह अभिमान महात्मामें कभी आ नहीं सकता।

7. महात्मामें भी विषय-विषयी भाव-रूप, द्वैत-बुद्धि नहीं है।

8. महात्माको कोई मूर्ख-पण्डित, सदाचारी-दुराचारी, कंगाल-धनी, दुःखी-सुखी कहे-किसीके कुछ कहनेका उसपर कोई प्रभाव नहीं है।

9. महात्मा किसीके प्रति टेढ़ी नजर नहीं करता ! सरल भावसे-'हाँ बाबा, यों ही !'

10. महात्मा किसीका परित्याग नहीं करता।

11. दूसरेकी चाह नहीं है।

इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता कि परिपूर्णतम परमात्माका मूर्तरूप महात्मा है-यह परमात्माके स्वरूपका एक उदाहरण है। परमात्मा अमूर्त है, महात्मा मूर्त, अर्थात् मूर्तिमान है। महात्माके जीवनमें परमात्माके स्वरूपसे पृथक् कोई धरणा नहीं है। परमात्मा परमार्थ है, महात्मा व्यवहार है। व्यवहार में महात्माको देखे बिना परमार्थकी सिद्धि या अनुभूति भी नहीं हो सकती।

3-2-86

❑

: 36 :

योग, भक्ति और ब्रह्मज्ञान

चित्तकी वृत्ति पाँच प्रकारकी होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे एक, जैसे-घट-पट, धूम-अग्नि आदि और सादृश्यसे गाय, नील-गाय इत्यादि। भूलसे दो, जैसे- सीपको चाँदी समझ लेना। झूठे सम्बन्धसे तीन, जैसे- बन्ध्या-पुत्र। निद्रा से चार, जैसे- सुषुप्ति और स्वप्न और स्मृतिसे पाँच, जैसी-देखी-सुनी अनुभवकी हुई वस्तुओंकी स्मृति। ये पाँचों प्रकारकी वृत्ति क्लेश देने वाली भी होती हैं और क्लेश छुड़ानेवाली भी होती हैं। संसार बढ़ानेवाले क्लेश देते हैं और संसारसे मुक्त करने वाले क्लेशको मिटाते हैं। योगाभ्यासके द्वारा इन सबका निरोध हो जाता है। द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसी वृत्ति निरोधकी अवस्थाको योग या समाधि कहते हैं।

परन्तु, इस समाधि दशामें न भक्ति रहती है और न ही अविद्या निवर्तक ब्रह्मज्ञान। इसलिये ये दोनों ही मार्ग निरोध-योगसे विलक्षण हैं। हमारे हृदयमें सद्गुरु, शास्त्रके द्वारा भगवान्‌का एक रूप आधान किया जाता है। अब चाहे उसके विरहकी पीड़ा हो और चाहे तदाकार वृत्तिसे रोमांच, अश्रुपात आदि हो, चित्तवृत्ति गल जाती है। गलनेका अर्थ है कि अबतक चित्तमें जो आकार और राग-द्वेष भरे हैं, वे भस्म हो जाते हैं और चित्तकी द्रवावस्थामें जो भगवान्‌का आकार आता है, उसमें प्रीति हो जाती है। इसीका नाम अर्थात् प्रीति विशिष्ट वृत्तिका नाम भक्ति है।

किसी-किसीकी चित्तवृत्ति, शम-दमादि साधनसे राग-द्वेष रहित तो हो जाती है, परन्तु, उसमें अश्रुपात, रोमांच या द्रवावस्था- ये सब नहीं आते हैं। शास्त्र सद्गुरुके द्वारा उस चित्तवृत्तिके साक्षीमें ज्ञान-स्वरूप ब्रह्मका आधन किया जाता है, वृत्ति भगवदाकार होती है तो भक्ति और ब्रह्माकार होती है तो ज्ञान। भगवान् सगुण है और ब्रह्म निर्गुण है।

भक्ति और ज्ञानमें क्या अन्तर है ? यह अन्तर है कि भगवदाकार वृत्ति उदय होनेके बाद आजीवन बनी रहती है और ब्रह्माकार-वृत्ति एक बार उदय होकर अज्ञानको मिटा देती है और फिर उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। रहे तो वाह-वाह, न रहे तो वाह-वाह !

भक्ति और ज्ञान दोनोंमें जो सगुण-निर्गुण ब्रह्म है, वह शास्त्र प्रमाणके द्वारा ही बुद्धिमें आरूढ़ होता है। भक्तिमें विश्वास एवं भावनाकी प्रधानता रहती है और परोक्ष-विषयक वृत्ति बनती है। प्रीति-विशिष्ट भगवदाकार वृत्ति भक्तिका स्वरूप है, उसको कर सकते हैं, छोड़ सकते हैं, बदल सकते हैं, क्योंकि उसमें जो आकार है वह साधन-साध्य है। हाँ, भक्तलोग उसको कृपा-साध्य मानते हैं। ब्रह्मज्ञानमें जो प्रमाण है-महावाक्य-वह अपरोक्ष रूपसे ही आत्माके ब्रह्मत्वका बोधन करता है और इसलिये वह अपरोक्ष सिद्ध वस्तुका बोध है। इस प्रकार भक्तिके प्रमाण, हेतु और फल, विश्वास, तन्मयता और साध्यरूपका अनुभव है, तो ब्रह्मज्ञान प्रमाण-मूलक साक्षात् अपरोक्ष अपनी स्वरूप-सिद्ध वस्तु है। मृदु चित्तके लिये भक्ति और विरक्त निष्ठुर चित्तके लिये ब्रह्मज्ञान। अतएव, दोनों में वाद-विवादके लिये कोई अवसर नहीं है। अधिकारी एवं विषयके भेदसे दोनो ही अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं।

❑

: 37 :

चमत्कारोंमें मत फँसिये !

मनको वशमें करनेसे साधन होता है, मनको उसकी पसन्दपर छोड़ देनेसे संसार बनता है, शास्त्र और गुरुके द्वारा भगवान्‌का कोई-सा रूप लाइये- शिव, विष्णु, राम । शास्त्र और गुरु प्रदत्त होनेके कारण उसमें महत्त्व-बुद्धि होगी। फिर बारम्बार मन उसका स्पर्श करेगा। एक स्थिर मूर्ति बनेगी । पूजा कीजिये, नाम लीजिये, सम्बन्ध जोड़िये, ध्यान कीजिये । अपनेको उसमें तन्मय हो जाने दीजिये । जैसे कभी-कभी किसी-किसीमें भूत-प्रेतका आवेश देखनेमें आता है या काम-क्रोधका आवेश देखनेमें आता है, ठीक वैसे ही आप उस मूर्तिमें आविष्ट हो जाइये। मूर्तिके रूपमें हँसिये, मूर्तिके रूपमें देखिये, मूर्तिके रूपमें बोलिये। इस प्रकार अपने आपको भूल जाइये और मूर्तिके रूप हो जाइये। कुछ समयके बाद यह आवेश उतरेगा, तब आप तन्मयताका चमत्कार देख सकेंगे।

आपकी कल्पनायें, मनोराज्य सत्य होने लगेंगे, वरदान, आशीर्वाद दे सकेंगे । शाप भी दे सकेंगे, परन्तु यह कोई परमार्थकी स्थिति नहीं है । जिन-जिन शक्तियों, स्वभावों, गुणोंका आरोप आपने अपने उपास्यमें किया होगा, वे आपके अन्दर आ जायेंगे। यदि आपका ध्यान शिथिल हो जायेगा, अवधान कम हो जायेगा, तो ये सारे चमत्कार उड़ जायेंगे और आप इनके अभावका अनुभवकर अपनेमें दुःखीपन और कंगालीपनका आरोप कर लेंगे। वस्तुतः, आप ही जब किसीसे एक होते हैं, तो आपकी सत्ता, ज्ञान और आनन्द उसमें भासने लगते हैं । वह उसका चमत्कार नहीं है, आपका ही चमत्कार है, जो मनोविकारसे सम्बद्ध होकर या संश्लिष्ट होकर दूसरेमें भासता है।

आप अपनी नित्यता, चेतनता और आनन्दको और किसीमें मत डालिये। वहाँसे निकाल लीजिये। इस प्रकार आप नाशवान, जड़ और दुःखसे अपनेको मुक्त कर लेंगे। तब, देशका विस्तार, कालकी नित्यता और जड़ वस्तुकी कारणता भी आपकी कल्पनासे बरी हो जायेगी और आप तब जान सकेंगे कि आप मूर्ति, तन्मयता, शक्ति, चमत्कार-सबसे निराले हैं और वह निराला रूप ब्रह्म है। अपने स्वरूपका किसी मजहबसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये, मजहबका दुराग्रह भी सत्यके साक्षात्कारमें बाधक ही है।

इस साधनको बताने वाला कौन व्यक्ति है, या कौन पुस्तक है, या कौन-सी परम्परा है या वह कब प्रकट हुआ-यह सब विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। विचार जहाँ उदय होते हैं और शान्त होते हैं, वहाँ देखिये। विचारके विषय आपका स्पर्श नहीं करते। आप विचारोंके प्रकाशक हैं।

8-2-86

❑

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

पुस्तक	मूल्य
वेदान्त	
मुण्डक सुधा	110.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	45.00
केनोपनिषद्	70.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	60.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	75.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	60.00
दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	80.00
वेदान्त बोध	110.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	40.00
आनन्दानुभव	
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	80.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	200.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	200.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	150.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अध्याय-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्ययोग (गीता अध्याय-9)	90.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	175.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	90.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अध्याय-13)	
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	120.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अध्याय-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	60.00
योगः कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं ब्रज	
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेवः सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं (मेरा सब ताना-बाना)	25.00
गीता दर्शन (तीन भागोंमें)	600.00

श्रीमद्भागवत

भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	600.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध (एकादश स्कन्ध) (दो भागोंमें)	270.00
रास पंचाध्यायी	150.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	45.00
भागवतामृत	70.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	25.00
गोपीगीत	100.00
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
प्रणयगीत	60.00

गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	20.00	नाम महिमा	25.00
उद्धवगीत	25.00	भगवन्नाम	10.00
कपिलोपदेश	60.00	शरण	10.00
ब्रह्म-स्तुति	85.00	प्रार्थना	10.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00	नारद भक्ति दर्शन	100.00
सद्गुरुसे क्या सीखें?	15.00	भक्ति सर्वस्व	75.00
उनकी कृपा	20.00	भक्तिदर्शनामृत	50.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00	भक्तिका चमत्कार	20.00
सत्संग महिमा	20.00	अवतार रहस्य	20.00
प्रह्लाद चरित	60.00	माधुर्य कादम्बिनी	30.00
उद्धव व्रजगमन	180.00	शिव संकल्प सूक्त	50.00
भागवत विमर्श (दो भागोंमें)	45.00	कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	10.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00	मोहनकी मोहनी	20.00
गर्भ स्तुति	60.00	ध्यानके समय	20.00
वसुदेव देवकी स्तुति	20.00	हनुमत्स्तोत्र	30.00
भागवत विचार दोहन	30.00	सत्संग सुधा	20.00
भिक्षुगीत	35.00	प्रार्थना षट्पदी	40.00
मैं ही मैं (चतुःश्लोकी भागवत)	30.00	साधन विचार	.00
सुदामा चरित	10.00	मंत्र विज्ञान	30.00
रामायण		योगदर्शन	100.00
श्रीरामचरितमानस		भगवान्‌के पाँच अवतार	50.00
(तीन भागोंमें)	1000.00	विष्णु सहस्रनाम	65.00
अध्यात्म रामायण	250.00	भक्त-चरित	15.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	100.00	भक्ति : विशेषताएँ	10.00
मानस दर्शन	40.00	आदित्य हृदय	15.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामा.)	30.00	श्रीअखण्डानन्द स्तवः	6.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायण	300.00	ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा	30.00
भक्ति एवं साधना		महाराजश्री-एक परिचय	25.00
विष्णु पुराण	65.00	सबके प्रिय सबके हितकारी	25.00
भक्ति एवं लीला	10.00	प्रेरक-प्रसंग	20.00

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055, मो. : 09619858361

● शाखा कार्यालय ●

श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281121

फोन : (0565) 2913043, 2540487, मो. : 09837219460



आनन्द सूत्र

"भगवान्ने चराचर जगत्को स्वसत्तासे और स्वसत्तामें ही जीवनदान किया है।

सत्से सदाचार, चित्से ज्ञान और आनन्दसे सुखानुभूति। उसकी अद्वितीयता ही सबको प्रेमरससे सिक्त करती रहती है।"

महाराजश्री की आनन्द वाणी सूत्रमें हम सभीके जीवनमें भक्ति, वैराग्य एवं भगवत्प्रबोध कराती है।

इन आनन्द - सूत्रोंका संकलन हम साधकोंके लिये एक विशेष उपादेयता रखता है।